

भन्ते ! धर्मकथा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले कर्मों का बन्ध करता है।

### ✓ अध्ययन की विधि

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिणहवणे ।

वंजण अथ तदुमए णाणाचारो दु अढ्विहो ॥(269)

मुलाचार, पृ.सं.(224)

काल, विनय, उपधान, बहुमार और अनिहव सम्बन्धी तथा व्यंजन, अर्थ और उभयरूप ऐसा ज्ञानाचार आठ प्रकार का है।

काल में अर्थात् स्वाध्याय की बेला में सम्यक् शास्त्र का पढ़ना, पढ़े हुए को फेरना, और व्याख्यान आदि कार्य किये जाते हैं वह काल भी ज्ञानाचार है। साहचर्य से अथवा कारण में कार्य, का उपचार करने से काल को भी ज्ञानाचार कह दिया है। विनय- अर्थात् काय वचन और मन सम्बन्धी शुद्ध भावों से स्थित हुए मुनि के विनयाचार होता है अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक, शुद्ध परिणामों से सहित मुनि के द्वारा जो शास्त्र पढ़ना, परिवर्तन करना और व्याख्यान करना है वह विनयाचार है। उपधान में अर्थात् उपधान अबग्रह नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहाँ भी सहाचार्य से उसे ही उपधान-आचार कह दिया है। बहुमान - पूजा सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना बहुमान आचार है। उसी प्रकार से अनिहव अर्थात् जिससे शास्त्र पढ़ा है उसका ही नाम प्रकाशित करना बहुमान आचार है। अथवा जिस शास्त्र को पढ़कर और सुनकर जानी हुए हैं उसी शास्त्र का नाम बताना चाहिए यह अनिहवाचार हैं। व्यंजन - वर्ण, पद और वाक्य की शुद्धि अथवा व्याकरण के उपदेश से वैसा ही शुद्ध पाठ आदि करना व्यंजनाचार है। अर्थ- अभिधेय अर्थात् वाच्य को अर्थ कहते हैं। वह अर्थ ही शुद्ध पाठ आदि करना व्यंजनाचार है। शब्द और अर्थ की शुद्धि से पठन आदि अनेकान्तात्मक है उसके साथ पठन आदि करना अर्थाचार है। शब्द और अर्थ की शुद्धि से पठन आदि करना उभयाचार हैं। सर्वत्र साहचर्य से अथवा कार्य में कारण आदि के उपचार से अभेद होने से इन्हीं काल आदि को ही आचार शब्द से कहा है। ऐसा समझना कि कालादि की शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार आठ प्रकार का ही हैं। अथवा अधिकरण के भेद से आचार में भेद हो गये हैं। काले, विनये आदि में प्रथमा या सप्तमी दोनों विभक्तियों का अर्थ किया जा सकता है। इस तरह कालान्तर, विनयाचार आदि ज्ञानाचार के भेद हैं।

पादोसियवेरन्तियगोसगियकाल मेव गेण्हिता ।  
उभये कालहि पुणो सज्जाओ होदि कायव्वो ॥(270)

वैरात्रिक और गौसर्गिक काल को ही लेकर दोनों कालों में पुनः स्वाध्याय करना होता है।

प्रकृष्टरूप दोषा अर्थात् रात्री है। जिस काल में वह प्रदोष काल कहलाता है। अर्थात् रात्री के पूर्व भाग को प्रदोष कहते हैं। उस प्रदोष काल की समीपता से दिन का पश्चिम भाग भी प्रदोष कहा जाता है। इसलिए प्रदोष के ग्रहण करने से दो काल ग्रहण किये जाते हैं। प्रदोष ही प्रादेशिक कहलाता है। विगत बीत गई है रात्री जिस काल में वह विरात्री है।

चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है अतः दो घड़ी से अड़तालिस मिनट विवक्षित हैं। सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर मध्याह्न काल के अड़तालिस मिनट पहले तक पूर्वाद्ध स्वाध्याय का काल है। इसी को 'गौसर्गि' कहा है। मध्याह्न के अड़तालिस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अड़तालिस मिनट पहले तक अपराह्न स्वाध्याय का काल है इसे प्रादेविक कहा है। सूर्यास्त के अड़तालिस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्री के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वरात्रि के स्वाध्याय का काल है इसे भी 'प्रादेविक' कहा है। पुनः अर्धरात्रि के अड़तालिस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय के अड़तालीस मिनट पहले तक अपर रात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे 'वैरात्रिक' कहा है। अर्थात् चारों संधिकालों में छायानवे मिनट (लगभग डेढ़ घण्टे) तक का काल अस्वाध्याय माना गया है।

णवसन्त पंचगाहा परिमाण दिसिविभाग सोहीए।

पुव्वणहे अवरणहे प्रदोस काले य सज्जाए॥(273)

पूर्वान्ह, अपराह्न और प्रदोष काल के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नव, सात और पाँच बार गाथा प्रमाण णमोकार मन्त्र को पढ़े। दिशाओं का विभाग दिग्विं भाग है। उसकी शुद्धि अर्थात् दिशाओं का उल्कापात आदि से रहित होना। पूर्वाह्न काल के स्वाध्याय के विषय में इस दिग्विं भाग की शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा परिमाण जाप्य करना चाहिए। उसमें यदि दिशादाह आदि हैं तब काल शुद्धि नहीं होती है। इसलिए वाचना भंग होती है। अर्थात् वाचना नामक स्वाध्याय नहीं किया जाता है। यह काल शुद्धि रात्रि के पश्चिम भाग में अस्वाध्याय काल में करना चाहिए। इसी अपराह्न स्वाध्याय के निमित्त कायोत्सर्ग में स्थित होकर प्रत्येक दिशा में सात-सात गाथा प्रमाण अर्थात् सात-सात बार णमोकार मंत्र पढ़ना चाहिए। तथा अपराह्न स्वाध्याय के अनन्तर प्रदोष काल की वाचना निमित्त पाँच-पाँच बार णमोकार मन्त्र प्रत्येक दिशा में बोलना चाहिए। सर्वत्र दिशादाह आदि के अभाव में काल शुद्धि होती है। सिद्धान्तग्रन्थ में भी कालशुद्धि के करने का विधान है। यथा- “पश्चिम रात्रि में स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकल कर प्रासुक भूमि प्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित हेकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्वादिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणारूप से पलट कर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस गाथाओं के उच्चारण काल से अथवा एक सौ आठ उच्छ्वास काल से (एक बार णमोकार मंत्र

में तीन उच्छवास होने से चार दिशा सम्बन्धी नव -नव के छत्तीस  $9 \times 4 = 36$  णमोकार के  $36 \times 3 = 108$  एक सौ आठ उच्छवासों से) कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्न काल में भी इसी प्रकार कालशुद्धि करनी चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक-एक दिशा में सात-सात गाथाओं के उच्चारण से होती है। यहाँ सब गाथाओं का प्रभाण अट्टार्ड्स अथवा उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले क्षेत्र शुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर पूर्व के समान काल शुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस गाथाओं के उच्चारण प्रभाण अर्थात् साठ उच्छ्वास प्रभाण है। अपरात्रि के समय वाचना नहीं है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नहीं है। अवधिज्ञानी, मनः पर्यज्ञानी समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारणमुनि तथा मेरू व कुलाचलों के मध्य स्थित चारण ऋषियों के अपरात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्र शुद्धि से रहित हैं।”

अभिप्राय यह हुआ कि पिछली रात्रि के स्वाध्याय में आजकल मुनि और आर्थिकाएँ सूत्रग्रन्थों का वाचना नामक स्वाध्याय न करें। एवं उनसे अतिरिक्त आराधनाग्रन्थ आदि का स्वाध्याय करके सूर्योदय के दो घड़ी (48 मिनट) पहले स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर चारों दिशाओं से तीन-तीन उच्छ्वास पूर्वक नव-नव बार णमोकार मंत्र का जाप्य करके दिशा-शुद्धि करें। पुनः पूर्वान्ह स्वाध्याय समाप्ति के बाद भी अपराह्न स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं में सात-सात बार महामन्त्र जपें। तथैव अपराह्न स्वाध्याय के अनन्तर भी पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु पाँच-पाँच महामन्त्र से दिशाशोधन कर लेवें। अपरात्रिक के लिए दिशाशोधन का विधान नहीं है, क्योंकि उस काल में ऋद्धिधारी महामुनि ही वाचना स्वाध्याय करते हैं और उनके लिए दिशा शुद्धि की आवश्यकता नहीं है।

#### स्वाध्याय के अयोग्य दिग्दाहादिदोष

दिसाह उक्तपडणं विजु चडक्कासणिंदधणुं च ।  
दुग्ंधसंज्ञादुदिणचंदगगहसूराहुज्ञं च ॥(274)

कलहादिधूमकेदू धरणीकयं च अव्यगजं च ।  
इच्चेवमाइबहुया सज्जाए वजिदा दोसा ॥(275)

दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्र का भयंकर शब्द, इन्द्रधनुष, दुर्गन्ध उठना, संध्या समय, दुर्दिन, चन्द्रग्रहण, सूर्य और राहु का युद्ध, कलह आदि तथा धूमकेतु, भूकम्प और मेघगर्जन तथा इसी प्रकार के और भी दोष हैं जो कि स्वाध्याय में वर्जित हैं।

**दिशादाह-** उत्पात से दिशाओं का अग्नि वर्ण हो जाना, उल्कापतन उल्क का गिरना अर्थात् आकाश के तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना, बिजली चमकना, मेघ के संघटट से उत्पन्न हुए वज्र का चटपट शब्द होना या वज्रपात होना, ओला बर्फ के टुकड़ों का बरसना, इन्द्रधनुष- धनुष के आकार में पाँच वर्ग के पुद्गल समूह का दिखना, दुर्गन्ध आना, लाल-पीले आकार की संध्या का

खिलना, जलवृष्टि करते मेघों से युक्त दिन का होना अथवा मेघों से व्याप्त अन्धकारमय दिन का हो जाना। चन्द्रयुद्ध, गृहयुद्ध, सूर्ययुद्ध और राहुयुद्ध का होना। चन्द्र का ग्रह के साथ भेद या संघट होना, ग्रहों का परस्पर में ग्रहों के साथ भेद या संघट आदि होना, सूर्य का ग्रह के साथ भेद आदि का होना। राहु का चन्द्र के साथ अथवा सूर्य के साथ संयोग होना ग्रहण कहलाता है। 'च' शब्द से निर्धारित आदि ग्रहण किये जाते हैं।

**कलह-** क्रोध के आवेश में हुए जनों का वचन और प्रतिवचनों से, बोलने और उत्तर देने से जो जल्प होता है, जो कि महाउपद्रव रूप है, कलह- नाम से प्रसिद्ध है। 'आदि' शब्द से तलवार, छुरी, लाठी आदि से जो युद्ध होता है वह भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए। धूमकेतु आकाश में धूमाकार रेखा का दिखना। धरणीकम्प- पर्वत, महल आदि सहित पृथ्वी का कम्पायमान होना। 'च' शब्द से रूधिर आदि की वर्षा होना, मेघों का गर्जना। पुनः 'चकार' से अँधी, अग्निदाह आदि होना। इत्यादि प्रकार से और भी बहुत से दोष होते हैं जो कि स्वाध्याय के काल में वर्जित हैं क्योंकि ये सभी लोगों के लिए उपद्रव में कारण हैं। कालशुद्धि के करने में ये दोष पठन, उपाध्याय, संघ, राष्ट्र और राजा आदि के विनाश को करने वाले हैं, इसलिए इन्हें प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए।

द्रव्य, क्षेत्र और भाव-शुद्धि  
 रूहिरादिपूर्यमंसं दव्वे खेते सदहत्थपरि ।  
 कोधादिसंक्लेशा भावविसोही पढणकाले ॥(276)

रूधिर आदि का पीव शरीर में होना और क्षेत्र में सौ हाथ प्रमाण तक माँस आदि अपवित्र वस्तु का वर्जन द्रव्य-क्षेत्र शुद्धि है और पठनकाल में क्रोधादि संक्लेश का वर्णन भावविशुद्धि है। यहाँ वर्जन शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण करके अर्थ किया गया है।

रूधिर आदि शब्द से अपवित्र, शुक्र, हड्डी और घाव आदि ग्रहण किये जाते हैं। पीव अर्थात् सड़ा खून, माँस-पंचन्द्रिय जीव का अवयव, ये अपने शरीर में हों या अन्य के शरीर में हों अर्थात् अपने या पर के शरीर से यदि ये अपवित्र पदार्थ निकल रहे हों तो द्रव्य शुद्धि न होने से स्वाध्याय वर्जित है। क्षेत्र में- स्वाध्याय करने के प्रदेश में चारों ही दिशाओं में चार सौ हाथ प्रमाण तक अर्थात् प्रत्येक दिशा में सौ-सौ प्रमाण तक इन सब अपवित्र वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए। यदि इनका शोधन करना-दूर करना शक्य नहीं है तो उस क्षेत्र को और द्रव्य को छोड़ देना चाहिए। जीव सहित प्रदेश के होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

**प्रवक्ता -**प्रवचन करने वालों या पढ़ाने वालों को तथा श्रोता आदि को उष्ण जल आदि वस्तुएँ आहार में लेनी चाहिए। जिसमें बात प्रचुर मात्रा में हो ऐसे आहार आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए। अजीर्ण आदि भी नहीं करना चाहिए अर्थात् गरिष्ठ भोजन करके अजीर्ण आदि दोष उत्पन्न हों ऐसा नहीं करना चाहिए। इस तरह द्रव्य शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि को चाहने वाले मुनियों को क्रोधादि संक्लेश परिणामों

भावशुद्धि है। पठन काल में इस भावशुद्धि को करते हुए अत्यर्थ रूप से उपशम आदि भाव रखना चाहिए। इस तरह कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और भावशुद्धि के द्वारा पढ़ा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा इन शुद्धियों के अभाव में, पढ़ा गया शास्त्र कर्मबन्ध के लिए हो जाता है, ऐसा समझना।

सिद्धान्त ग्रन्थ में चार प्रकार की शुद्धि का वर्णन है जो निम्न प्रकार हैं- “यहाँ व्याख्यान करने वालों और सुनने वालों को भी अर्थात् सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़ाने वाले गुरुओं एवं पढ़ने वाले मुनियों को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करना चाहिए- पढ़ाना चाहिए।

उनमें ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सितस्वप्न, रुधिर, विष्टा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीव का बहना - इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों दिशाओं में अट्टाईस हजार धनुष प्रमाण क्षेत्र में विष्टा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा सभी में पंचेन्द्रिय जीव के शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, माँस और रुधिर के सम्बन्ध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। विजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, अकाल-वृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आछन्न दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात-कुहरा, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महीमा, जिन महिमा इत्यादि के अभाव को काल शुद्धि कहते हैं। तथा पूर्वान्ह आदि वाचना हेतु दिशा की शुद्धि करना भी कालशुद्धि है जो नव, सात और पाँच गाथाओं द्वारा पहले कही जा चुकी है।

राग-द्वेष, अहंकार, आर्त-रौद्र ध्यान इनसे रहित पाँच महाब्रत, समिति और गुप्ति से सहित दर्शनाचार आदि समन्वित मुनियों के भाव शुद्धि होती है।”

इस विषय की उपयोगी गाथाएँ दी गयी हैं यथा-

“यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के हो जाने पर तथा दातारों के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। तिल मोदक, चिउड़ा, लाई पुआ आदि चिक्कण एवं सुगन्धित भोजनों के करने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। एक योजन के धेरे में (चार कोश में) संन्यास विधि होने पर, तथा महोपवास-विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशलोच के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए। आचार्य का स्वर्ग वास होने पर सात दिन तक अध्ययन का निषेध है। आचार्य का स्वर्गवास एक योजन दूर होने पर तीन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन निषिद्ध है।

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक वीधा या गुंठा) मात्र में तिर्यचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। उतने मात्र में स्थावरकाय के घात होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध के आने पर या ग्रन्थ का ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्ध न होने पर मोक्ष इच्छुक मुनि को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल-विसर्जन भूमि से सौ अरति प्रमाण दूर, मूत्र विसर्जन के स्थान से पचास अरति दूर, मनुष्य शरीर के लेश मात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष और तिर्यकों के शरीर सम्बन्धी अवयवों के स्थान से उससे आधी मात्र-पचीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

व्यन्तरों द्वारा भेरी तड़ान करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के द्वारा समीप में झाड़-बुहारी करने पर; अग्नि, जल व रूधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के माँस व हड्डियों के निकले जाने पर क्षेत्र विशुद्धि नहीं होती, जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है।

मुनि क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्धि मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे। बाजू, काँख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपर्वक अध्ययन करके, पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे। साधुओं ने बारह तपों में भी स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप कहा है।

पर्व दिनों में - नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों - आष्टाहिक दिनों में और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान ब्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पौर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है। यदि साधु जन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन जिन रूप को नष्ट करता है। दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है। तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त हो जाते हैं।

अतिशय दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अति वृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से जो मुनि द्रव्य - क्षेत्र आदि की शुद्धि को न करके अध्ययन करते हैं वे असमाधि अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना, अस्वाध्याय-शास्त्र आदिकों का अलाप, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं।”

सूत्र किनके द्वारा कथित होते हैं? इसका उत्तर  
 सुतं गणहरकहिदं तहेव पत्तेय बुद्धि कहिदं च।  
 सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च। (277)

गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येक बुद्धि क्रदिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को सूत्र कहते हैं -

सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए अर्थ को ग्रहण कर गौतम देव आदि गणधर देवों द्वारा

ग्रन्थ रूप से रचित् जो अंग, पूर्व, वस्तु और प्राभृकत आदि हैं वे सूत्र कहलाते हैं। जो किसी एक कारण को निमित्त करके प्रबुद्ध हुए हैं वे प्रत्येक बुद्ध हैं अर्थात् जो धर्म-श्रवण आदि उपदेश के बिना ही चारित्र के आवरण करने वाले ऐसे चरित्र मोहनीय कर्म को क्षयोपशम से बोध को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने ग्रहण-सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या उल्कापात आदि देखने से संसार के स्वरूप को जानकर संयम ग्रहण किया है वे प्रत्येक बुद्ध हैं। अर्थात् प्रत्येक बुद्धि नाम की एक प्रकार की ऋद्धि से सहित जो महर्षि हैं उनके द्वारा कथित शास्त्र सूत्रसंज्ञक है।

उसी प्रकार से द्वादशांग और चौदहपूर्व ऐसे सम्पूर्ण श्रुत के धारक जो श्रुतकेवली हैं उनके द्वारा कथित-उपदिष्ट-रचितशास्त्र भी सूत्र संज्ञक हैं। जो यारह अंग और उत्पादपूर्व से लेकर विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व को पढ़कर पुनः रागादि भावों में परिणत नहीं हुए हैं वे अभिन्न दशपूर्वी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी सूत्र हैं ऐसा समझना।

तं पठिदुमसज्जाये णो कप्पदि विरद इत्थि वगस्स।

एतो अण्णो गंथो कप्पदि पठिदुं असज्जाए। (278)

अस्वाध्याय काल में मुनिर्वा और आर्थिकाओं को इन सूत्र ग्रन्थ का पढ़ना ठीक नहीं है। इनसे भिन्न अन्य ग्रन्थ को अस्वाध्याय काल में पढ़ सकते हैं।

विरत वर्ग अर्थात् संयत समूह को और स्त्री वर्ग अर्थात् आर्थिकाओं को अस्वाध्याय काल में-पूर्वोक्त काल शुद्धि आदि से रहित काल में इन सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करना युक्त नहीं है। किन्तु इन सूत्र ग्रन्थों से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को काल शुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है। ऐसा समझना। आराधना ग्रन्थ, मरणाकथक-ग्रन्थ, संग्रहात्मक ग्रन्थ, स्तुति-ग्रन्थ, प्रत्याख्यान, आवश्यक-क्रिया, धर्मकथा, पुराण, चारित्र, भावना, नीति, सदाचार परक ग्रन्थ सामान्य शुद्धि से पढ़ सकते हैं।

विनय शुद्धि

पतिव्यंकणिसेजगदो

पडिलेहिय

अंजलीकदपणामो।

सुत्तत्थजोगजुत्तो

पढिदव्वो

आदसत्तीए।

पर्यकासन से बैठकर पिच्छिका से प्रतिलेखन करके अंजली जोड़कर प्रमाण पूर्वक सूत्र और उसके अर्थ में उपयोग लगाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए।

मुनि पर्यकासन से अथवा वीरासन आदि से सम्यक् प्रकार की विधि से बैठे कर शुद्ध जल से हाथ-पैर आदि धोकर तथा चक्षु से अच्छी तरह निरीक्षण करके और पिच्छिका से भूमि को, हाथ-पैर आदि पुस्तक को परिमार्जित करके मुकुलित हाथ बनाकर अंजलि जोड़कर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ के संयोग युक्त अंग आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार सूत्र और अर्थ में व्यभिचार न करते हुए अर्थात् सूत्र के अनुसार उसका अर्थ समझते हुए शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थात् उपयोग

को निर्मल बनाकर और शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न पूर्वक जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सूत्र को अर्थ सहित पढ़ना चाहिए। यह दूसरी विनय शुद्धि हुई है।

### उपधान का लक्षण

आयंविल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादब्बं ।  
तं तस्स करेमाणो उपहाण - जुदो हवदि एसो ।

आचाम्ल निर्विकृति या अन्य भी कुछ नियम जिस स्वाध्याय के लिए करना होता है, उसके लिए उस नियम को करते हुए ये मुनि उपधान आचार सहित होते हैं।

### बहुमान का स्वरूप

सुत्तथं जप्यंतो वायंतो चावि णिजराहेदुं ।  
आसादणं ण कुजा तेण किंदं होदि बहुमाणं ।

निर्जरा के लिए सूत्र और उसके अर्थ को पढ़ते हुए तथा उनकी वाचना करते हुए आसादना नहीं करे। इससे बहुमान होता है।

मुनि निर्जरा के लिए - कर्मों के क्षय हेतु- अंग, पूर्व आदि के सूत्र और अर्थ को, जो जैसे व्यवस्थित है वैसे ही उनका उच्चारण करते हुए, पढ़ाते हुए, वाचना करते हुए और अन्यों का भी प्रतिपादन करते हुए आचार्य आदि की, शास्त्रों की और अन्य मुनियों की भी आसादना (तिरस्कार) नहीं करे अर्थात् गार्विष्ट नहीं होवे। इससे शास्त्रादि का बहुमान होता है, पूजादिक करना होता है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्र का, गुरु का अथवा अन्य किसी मुनि या आचार्य का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। बल्कि उनके प्रति पूजा बहुमान आदि सूचक वचन बोलना चाहिए। यह बहुमान शुद्धि चौथी है।

### अनिह्व का स्वरूप

कुलवयसीलविहूण सुत्तयं सम्मगागमित्ताणं ।  
कुलवयसीलमहले णिणहवदोसो दु जप्यंतो ।

कुल ब्रत, और शील से हीन होते हुए भी सूत्र और अर्थ को ठीक से पढ़कर कुल, ब्रत और शील से महान् कहने लगना - यह निह्व दोष होता है।

गुरु की संतति- परम्परा का नाम कुल है। हिंसा आदि पाँच पापों से विरति होना ब्रत है। ब्रतों के रक्षण आदि हेतु जो अनुष्ठान हैं उसे शील कहते हैं। इन कुल, ब्रत और शील से जो हीन हैं, म्लान हैं वे कुल, ब्रत और शील विहीन हैं। अर्थात् मठादिकों का पालन करने से अथवा अज्ञान आदि से गुरु सदोष होते हैं। ऐसे गुरु के शिष्य यद्यपि ज्ञानी और तपस्वी हैं। फिर भी वे शिष्य कुलहीन कहे जाते हैं। अथवा तीर्थकर भगवान्, गणधर देव और सक्रदिं सम्पन्न महामुनियों से अतिरिक्त जो अन्य यतिगण हैं वे यहाँ पर कुल, ब्रत और शील से विहीन माने गये हैं। उन कुलब्रतशील से विहीन यतियों

से समीचीन शास्त्रों को समझना पढ़कर जो ऐसा कहते हैं कि 'मैंने कुल, ब्रत और शीत में महान् ऐसे गुरु से यह शास्त्र पढ़ा है इस प्रकार से कहने वाले उन मुनि के निहव नाम का दोष होता है। अपने आप में गर्व को धारण करते हुए मुनि के शास्त्र-निहव और गुरु निहव दोष होता है और इससे महान् कर्म बन्ध होता है। जिनेन्द्रदेव कथित शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर पुनः यह कहता है कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है। उस शास्त्र में ज्ञानी नहीं हुआ हूँ। किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा बोद्ध गुरु धर्म कीर्ति आदि से मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार निर्गन्ध यातियों से शास्त्र समझकर अन्य का नाम, ब्राह्मण आदि का नाम प्रतिपादित करने लगता है। ऐसा किसलिए ?

लोक में पूजा के लिए। अर्थात् लोक में कोई अन्य ख्यातिप्राप्त है। और अपने गुरु कुछ कम ख्यात हैं। इसलिए इनका-प्रसिद्ध गुरु या ग्रन्थ का नाम लेने से मेरी लोक में पूजा होगी। यदि ऐसा समझकर कोई मुनि गुरु निहव या शास्त्रनिहव करते हैं तो वे निहव दोष के निमित्त से उसी समय से मिथ्या दृष्टि हो जाते हैं। सामान्य यतियों से ग्रन्थ को सुनकर जो तीर्थकर आदि का नाम प्रतिपादित कर देते हैं। ऐसा करने से भी वे निहव दोष के भागी होते हैं। यह अनिहव शुद्धि पाँचवी है।

व्यंजन शुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभय शुद्धि का स्वरूप  
विंजनसुद्धं सुतं अथ विसुद्धं च तदुभयविसुद्धं।  
पयदेण य जप्तंतो णाणविसुद्धो हवई ऐसो। (२४५)

व्यंजन से शुद्धि, अर्थ से विशुद्धि और इन उभय से विशुद्ध सूत्र को प्रयत्न पूर्वक पढ़ते हुए यह मुनि ज्ञान से विशुद्ध होता है।

व्यंजन शुद्धि-शब्द से अक्षरों से शुद्धि पद और वाक्यों से शुद्धि को भी लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशार्थक होते हैं। अर्थात् सूत्र में एक अवयव का उल्लेख अनेक अवयवों के उल्लेख के लिए उपलक्षण रूप रहता है। अतः व्यंजन शुद्धि शब्द से अक्षर, पद और वाक्यों की शुद्धि को भी समझना चाहिए। उन सूत्रों का अर्थ शुद्धि समझना अर्थशुद्ध है। इन दोनों को शुद्धि पढ़ना तदुभय शुद्ध है। सूत्र का सम्बन्ध तीनों के साथ करना चाहिए। अर्थात् सूत्रों को अक्षर मात्रादिक से शुद्धि पढ़ना। उन का ठीक-ठीक अर्थ समझना और सूत्र तथा अर्थ दोनों को ही पढ़ना। प्रयत्न पूर्वक व्याकरण के अनुसार अथवा गुरु के उपदेश के अनुसार इन सूत्र, अर्थ और उभय को पढ़ते हुए अथवा अन्य को वैसा प्रतिपादन करते हुए मुनि ज्ञान में विशुद्धि को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह हुआ कि सिद्धांत आदि ग्रन्थों को अक्षर से शुद्धि, अर्थ से शुद्धि और ग्रन्थ तथा अर्थ इन दोनों से शुद्धि पढ़ता हुआ, उनकी वाचना करता हुआ और उनको प्रतिपादित करता हुआ मुनि ज्ञान विशुद्ध हो जाता है। वह अक्षर आदि का विपर्यय नहीं करता है। व्याकरण के अनुकूल और गुरु उपदेश के अनुकूल पढ़ता है। इस प्रकार से इन तीन शुद्धियों का अर्थात् छठी, सातवी आठवीं शुद्धियों का कथन किया गया है। यहाँ तक ज्ञानाचार के आठ भेद रूप आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ।

विनय से अध्ययन का फल

विणएण सुदम धीं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।  
तमुवडादि परभवे केवलणाणं च आवहदि। (286)

विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवल ज्ञान को प्राप्त करा देता है।

विनय से जो शास्त्र पढ़ा गया है। प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में यह सूत्र ग्रन्थ उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है। और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवल ज्ञान को भी प्राप्त करा देता है। इसलिए काल आदि की शुद्धिपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

महावीर भगवान् के शिष्य गौतम गणधर ने भी कहा है-

तत्थ णाणायारोः- काले, विणये, उवहाणे, बहुमाणे तहेव अणिणहवणे, विजंण-अत्थतदुभये चेदि, णाणायारो अद्विहो परिहाविदो, से अक्खरहीणं वा, सरहीणं वा, विंज-णहीणं वा, पदहीणं वा, अत्थहीणं वा, गंथहीणं वा, थवेसु वा, युईसु वा, अत्थक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा, अणियोग-द्वारेसु वा, अकाले वा, सज्जाओ कदो वा, कारिदो वा, किरंतो वा, समणुमण्णिदो, काले वा परिहाविदो, अच्छाकारिदं, मिच्छामेलिंदं, आमेलिंदं वा मेलिंदं, अण्णहादिणं, अण्णहापडिच्छिदं, आवासएसु परिहीणदाए, तरस मिच्छा मे दुक्कडं॥ धर्म ध्यान प्रकाश पृ.स.268

उस पांच प्रकार के आचार में पहला ज्ञानाचार है उसके 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनः पर्यज्ञान और 5. केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञान के पांच भेद होते हुये भी यहाँ पर श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है, क्योंकि उसी का कालादि आठ प्रकार से आचरण सम्भव है। श्रुतज्ञानाचार आठ प्रकार का है। 1. सन्ध्या, सूर्य का या चन्द्रका ग्रहण, उल्कापात (बज्रपात या उल्का का टूटना) आदि अकालों को छोड़कर गोसर्गिक, प्रादोषिक कालों में शास्त्र का पठन-पाठन, श्रवण (सुनना) श्रावण (सुनाना) चिन्तवन, परिवर्तन, व्याख्यानादि करना कालाचार है। 2. पर्यकादि सुखासनों से बैठकर कायिक, (काय सम्बन्धी) वाचिक (वचन सम्बन्धी) शुद्ध परिणामों से पठन-पाठन आदि करना विनचायार है। 3. अवग्रह (नियम) विशेषपूर्वक पठन-पाठनादि करना उपधानाचार है। 4. गन्ध पुष्प आदि अष्टद्रव्य से पूजा और सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और गुरुभक्तिरूप भाव पूजा पूर्वक पठन (पढ़ना) एवं पाठन (पढ़ाना) आदि करना बहुमानाचार है। 5. जिस गुरु से पढ़ा है उस गुरु का नाम न छिपाकर उसी का नाम कहना या जिस शास्त्र को पढ़कर जानी हुआ है उसे न छिपाकर उसी शास्त्र का नाम बताना अनिन्हवाचार है 6. वर्ण, पद, वाक्य की शुद्धिपूर्वक शास्त्रों का पठन-पाठनादि व्यंजनाचार है। 7. अर्थ के अनुकूल पठन-पाठनादि करना अर्थाचार है। 8. तथा शब्द और अर्थ की शुद्धि पूर्वक पठन-पाठनादि करना उभयाचार है। 1. काल 2. विनय 3. उपधान 4. बहुमान 5. अनिहव 6. व्यंजनशुद्ध 7. अर्थशुद्ध 8. उभयशुद्ध इस प्रकार 8 प्रकार का ज्ञानाचार है उसका अनेक तीर्थङ्करदेवों के गुणों का वर्णन करने वाले स्तवनों में, एक तीर्थकर के गुणों का वर्णन

करने वाली स्तुतियों में चारित्र और पुराणरूप अर्थाख्यानों में, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में, कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोग द्वारों में (क) स्वरहीन (ख) सुबन्तिङ्गत्पद से हीन (ग) ककारादि व्यंजनहीन, (घ) अर्थहीन (ङ) वाक्य, अधिकारादि रहित, ग्रन्थहीन, पठन पाठनादि करके परिहापन किया (आवश्यकता में कमी की) सन्ध्या, ग्रहण, उल्कापातादि अस्वाध्याय काल में आगम (सिद्धान्त) का स्वाध्याय किया, कराया और दुसरे को करते हुये की अनुमोदना की, आगम में विहित (बतलाये हुये) गोसर्गिकादिकाल में स्वाध्याय नहीं किया; बिना विचारे श्रुत का जल्दी-जल्दी उच्चारण किया, किसी अक्षर या शब्द को किसी अविद्यमान अक्षर या शब्द के साथ मिलाया, शास्त्र के अन्य अवयवकों किसी अन्य अवयव के साथ जोड़ा, उच्चध्वनियुक्त पाठ को नीचध्वनि वाले पाठों के साथ और नीचध्वनियुक्त पाठ को उच्चध्वनिवाले पाठ को साथ जोड़कर पढ़ा, अन्यथा कहा, अन्यथा ग्रहण किया, छह आवश्यकों में उनके कालानुसार अनुष्ठानकर, परिहीनता (कमी) करके ज्ञानाचार का परिहापन किया उस ज्ञानाचार परिहापन सम्बन्धी मेरे दुष्कृत में विफलता हो। यथा —

नन्दी सूत्र में भी कहा है जो श्रुतज्ञान शुद्धि से युक्त है वहीं वास्तविक श्रुतज्ञान है और उससे ही आत्मकल्याण होता है।

आगमसत्थगहणं, जं, बुद्धिगुणेहि अड्डहि दिद्धं।

बिंति सुयणाणलंभं, तं पुव्विसारया धीरा।(94) नन्दी सूत्र (पृ.484)

सम्यक्श्रुत को भी बुद्धि के आठ गुणों के साथ ग्रहण किया गया हो, तभी वास्तविक श्रुतज्ञान का लाभ है (अन्यथा नहीं)।

‘पूर्व विशारद’- दृष्टिवाद के पाठी, धीर-उपसर्ग आदि के समय भी व्रत प्रत्याख्यानों को दृढ़तापूर्वक पालने वाले, संत भगवंत कहते हैं कि-

जो आगम शास्त्रों का (जिसने जीवादि तत्त्वों का सम्यक् यथार्थ बोध हो, ऐसे सम्यक् श्रुत का) ग्रहण है, वहीं वास्तविक श्रुतज्ञान का लाभ है। मिथ्याश्रुत ग्रहण, वास्तविक श्रुतज्ञान का लाभ नहीं।

जिससे जीवादि तत्त्वों का यथार्थ सम्यक् बोध होता है, ऐसे सम्यक्श्रुत रूप आचाराग आदि तथा इनसे विपरीत मिथ्याश्रुत का परिचय पहले दे दिया है। अब सूत्रकार, बुद्धि के आठ गुणों को बतलाते हैं। —

सुस्सूसइ 2 पडिपुच्छइ 3 सुणेइ 4 गिणहइय 5 ईहए यावि।

6 तत्तो अपोहए वा, 7 धारेइ 8 करेइ वा सम्मं।(95)

1 जो ‘शुश्रुषा करता है’- गुरुदेव जो कहते हैं उसे विनययुक्त सुनने की इच्छा रखता है एकाग्र होकर सुनता है। 2 ‘प्रतिपृच्छा करता है’ - सुनते हुए श्रुत में जहां शंका हो जाये, वहाँ अति नम्र वचनों

से गुरुदेव के हृदय को आहलादित करता हुआ, 'पूछता' है। 3 'सुनता है' - पूछने पर गुरुदेव जो कहते हैं, उन शब्दों को चित्त को डोलायमान न करते हुए सावधान चित्त हो सुनता है। 4 'ग्रहण करता है'- उन शब्दों को सुनकर उनके अर्थों को समझता है। 5 'ईहा करता है'- गुरुदेव के पूर्व कथन और पश्चात् कथन में विरोध न आवे, इस प्रकार सम्यक् पर्यालोचना करता है। 6 'अपोह करता है'- विचारणा के अन्त में गुरुदेव जैसा कहते हैं, तत्त्व वैसा ही है, अन्यथा नहीं, - इस प्रकार स्वमति में सम्यक् निर्णय करता है। 'धारण करता है'- वह निर्णय कालान्तर तक स्मरण में रहे, इस प्रकार उसकी धारणा (अविच्युति) करता है। 8 'करता है'- श्रुतज्ञान में जिसे त्याग करना कहा है उसका त्याग करता है, जिसकी उपेक्षा करना कहा है, उसकी उपेक्षा करता है तथा जिसका धारण करना कहा है, उसे धारण करता है।

अब सूत्रकार सुनने की विधि बताते हैं।—

मूँ हुँकारं वा, वाढङ्कारं पडिपुच्छं वीमंसा।  
तत्तो पसंगपारायणं च, परिणिष्ठं सत्तमए॥(96)

सर्वप्रथम 1 'मूक रहे'- गौणों की भाँति चुपचाप होकर गुरुदेव के वचन सुने। 2 'हुँकार करे'- सुनने के पश्चात् गुरुदेव को विनय युक्त तीन बार वन्दना करे। 3 'बाढङ्कार करे'- वन्दना के पश्चात् 'गुरुदेव। आपने यथार्थ प्रतिपादन किया' - यों कहे। 4 'प्रतिपृच्छा करे'- यह 'तत्त्व यों कैसे?' - यों सामान्य प्रश्न करे। 5 'विमर्श करे'- प्रश्न का सामान्य उत्तर मिलने के पश्चात् विशेष ज्ञान के लिए प्रमाण आदि पूछे। 6 'प्रसंग परायण करे'- प्रमाण आदि प्राप्त करके उस तत्त्व प्रसंग का आद्योपान्त सूक्ष्म बुद्धि से परायण करे। 7 'सातवें में परिनिष्ठ होवें'। ऐसा करने पर सातवीं दशा में श्रुतार्थी शिष्य, गुरुदेव के समान ही तत्त्व प्रतिपादन में समर्थ बन जाता है।

अब सूत्रकार, शिष्य को श्रुतज्ञान देने की विधि बताते हैं।

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ णिजुत्तिभीसिओ भणिओ।

तइओ य णिरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे।(97) पृ.न. 486

प्रथम सूत्र पढ़ाने और सामान्य अर्थ बतावें, फिर निर्युक्ति मिश्रित सूत्रार्थ पढ़ावें और अन्त में नय, निक्षेप प्रामाणादि सहित 'निरवशेष' सूत्रार्थ पढ़ावें। यह श्रुतदान की विधि है।

आत्मानुशासनम् में गुणभद्र आचार्य ने उपर्युक्त विषय का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार से किया है -

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्  
सौख्येषी श्रणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।

धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं  
गृणन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः(7)

पृ.6 आत्मानुशासनम्

जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करने वाला है; दुख से अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषा है, श्रवण आदिरूप बुद्धिविभव से सम्पन्न है, तथा उपदेश को सुनकर और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध ऐसे सुख कारक दमामय धर्म को ग्रहण करने वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है।

यहाँ धर्मोपदेश के सुनने का अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोता के गुणों का विचार करते हुए सबसे पहिले यह बतलाया है कि भव्य होना चाहिये। जो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्-चारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनन्तचतुष्टयस्वरूप से परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकार का भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानी के सींचने से मिट्टी गीलेपन को प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घट के ऊपर जलबिन्दुओं के डालने पर वह उन्हें आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार धी आदि से चिकिणताको प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है- वे इधर-उधर बिखर कर नीचे गिर जाती हैं। ठीक यही स्थिति उस श्रोता की भी है- जिस श्रोता का हृदय सरल है वह सदुपदेश को ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करने में प्रयत्नशील होता है, किन्तु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव सबसे पहिले उसका भव्य होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहित का विवेक होना चाहिये। कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकार से हो सकता है, यह विचार यदि श्रोता के रहता है तब तो वह सदुपदेश को सुनकर तदनुसार कल्याणमार्ग में चलने के लिये उद्यत हो सकता है। परन्तु यदि उसे आत्म-हित की चिन्ता अथवा हित और अहित का विवेक ही नहीं है तो वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। किन्तु जब और जिस प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिरता से आचरण करता रहेगा। इस प्रकार से वह दुखी ही बना रहेगा। इसीलिये उसमें आत्महित का विचार और उसके परीक्षण की योग्यता अवश्य होनी चाहिये। इसी प्रकार उसे दुख का भय नहीं है और सुख की अभिलाषा भी होनी चाहिये, अन्यथा यदि उसे दुख से किसी प्रकार का भय और सुख की अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुख को दूर करने वाले सुख के मार्ग में प्रवृत्त ही क्यों होगा? नहीं होगा। अतएव उस दुख से भयभीत और सुखाभिलाषा भी अवश्य होना चाहिये इसके अतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धि का विभव या श्रोता के आठ गुण भी होने चाहिए-

“शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।  
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुराष्ट्रे गुणान् विदुः ॥

सबसे पहिले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (शुश्रूषा) होनी चाहिये, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किन्तु वह उसे रूचिपूर्वक सुनेगा भी नहीं। अथवा शुश्रूषा से अभिप्राय गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुये अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यायोग्य का युक्ति पूर्वक विचार करना, इस विचार से योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को छोड़ना, तथा योग्य तत्व के विषय में दृढ़ रहना; ये श्रोता के आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिये। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिये, क्योंकि यदि वह हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तुस्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है-

“आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्य ।  
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्घत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

अर्थात् दुराग्रहीमनुष्ठने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है किन्तु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोता में ये गुण विद्यमान होंगे वह सुरुचि पूर्वक धर्मोपदेश को सुन करके तदनुसार आत्महित के मार्ग में अवश्य प्रवृत्त होगा।

#### अध्ययन में विनय

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिणहवणे ।  
वंजणअत्थतदुभयं विणुओ णाणम्हि अट्ठविहो । (मूलाचार) 367

द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन-फेरना कालविनय है। उन्हीं ग्रन्थों का (या अन्य ग्रन्थों का) हाथ पैर धोकर पर्याकासन से बैठकर अध्ययन करना विनयशुद्धि नाम का ज्ञान विनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रंथ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रंथ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तिंत करना अर्थात् उस ग्रंथ का उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिहव है। शब्दों का शुद्ध पढ़ना व्यंजनशुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थ शुद्ध विनय है और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए।

ज्ञानकी विशेषता-

णाणं सिक्खदि णाणं गुणोदि णाणं परस्स उवदिसदि।

णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो॥(368)

ज्ञान विद्या को प्राप्त करता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय-सत्यवृत्ति करना है वह ज्ञानविनीत होता है।

प्रश्न - दर्शनाचार और दर्शनविनय में क्या अन्तर हैं? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञानविनय में क्या अन्तर है?

उत्तर - शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न दर्शनविनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। उसी प्रकार कालशुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल आदि विनय है तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रन्थ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञान तम को दूर करता है और आत्मा को मोक्ष मार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिये।

औपचारिक विनय-

बाइयवाइयमाणसिओ त्ति अकतिविहो दु पंचमो विणओ।

सो पुण सब्बो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य॥(372)

काय से होने वाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप हैं। वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद हैं, और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर हैं तब उनका विनय प्रत्यक्ष विनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्ष विनय है।

कायिक विनय का स्वरूप

अब्भुट्टाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।

पच्यूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव॥(373)

मुण्ड अर्थात् क्रषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके बन्दना करना, अंजलि जोड़कर सिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ क्रषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य बन्दना है अर्थात् भक्ति पाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड बन्दना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिये। उनकी प्रति भक्ति पाठ करते हुए कृति कर्म करना चाहिये तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिये। साधुओं के आते समय सम्मुख जाकर स्वागत करना चाहिये और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिये उनके पीछे-पीछे जाना चाहिये।

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सवणं।

आसणदाणं उवगरणदाणं ओगासदाणं च ॥(374)

देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना) गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, बसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अनेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिये निवेदन करना अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनग्रता रखना।

पडिरूवकायसंफासणदा य पडिरूपकालकिरिया य।

पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं ॥(375)

गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल शीत क्रिया, शीतकाल में उष्ण क्रिया करना और वर्षाकाल में उस क्रतु के योग्य क्रिया करना अर्थात् गुरु की सेवा आदि क्रतु के अनुकूल और उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना, उनके लिये संस्तर अर्थात् चटाई धास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों की ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण।

एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स ॥(376)

इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है, क्योंकि यह काय के आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप-

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।

सुत्ताणुवीचिवयणं अणिद्दुरमक्कसं वयणं ॥(377)

आप भट्टारक ! इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजा वचन है। हितपथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारणभूत, वचन हितवचन है। मित परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हों किन्तु अर्थ बहुत हों मित वचन है। मधुर मनोहर अर्थात् कानों को सुखदायी वचन मधुर वचन है। आगम के अनुकूल बोलना कि जिसप्रकार से पाप न हो सूत्रानुविच्चि वचन हैं। तुम जलो, मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्टर वचन हैं कठोरता रहित वचन अकर्कश वचन हैं। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।

एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादब्बो ॥(378)

क्रोध, मान आदि से रहित वचन उपशांत वचन है। गृहस्थों के जो अभद्र आदि रूपवचन हैं उनसे रहित वचन तथा बन्धन, त्रासन, ताडन आदि रहित वचन अगृहस्थ वचन हैं। असि, मषि कृषि आदि क्रियाओं रहित वचन अक्रिय वचन हैं अथवा सक्रिय ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना, किन्तु अन्य की चिन्ता और अन्य के दोष रूप वचन नहीं बोलना चाहिये। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिये। किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलना अहीलन वचन हैं और भी ऐसे वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय हैं जो कि यथायोग्य करना चाहिये।

#### मानसिक विनय का स्वरूप

पापविसोक्तिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।

णादब्बो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ॥(379)

हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिये हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होने वाला मानसिक विनय कहलाता है।

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो ।

विरहम्मिवि वटिज्जदि आणणिदेसचरियाए ॥(380)

यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गूरू के रहते हुये उनके पास में किया जाता है और गुरुओं के विरह में उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर है उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्चा करने से होता है, अर्थात् अर्हन्त भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी ब्रत समिति आदि चर्चयों कही गयी हैं, उन रूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार आज्ञा, पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहा समासदो भणिओ।  
सत्त चउव्विह दुविहो बोधब्बो आणुपुव्वीए॥(381)

जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करने वाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है वाचिक विनय चार प्रकार का है, मानसिक विनय दो प्रकार का है-

अब्भुट्ठाणं सण्णिदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।  
किदियम्मं पडिरुवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ॥  
अहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो समासदो होदि॥  
पडिरुवकालकिरियाणासादणसीलदा चेव ॥  
पडिरुवो काइगवाचिगमाणसिगो दु बोधब्बो।  
सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकमं होदि भेदेण॥(382)

अभ्युत्थान-गुरुओं को सामने 'आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना। सत्रति-शिर से प्रणाम करना। आसनदान-पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना। अनुप्रदान-पुस्तक, विच्छिका आदि उपकरण देना। प्रतिरूप क्रियाकर्म यथायोग्य-श्रुत भक्ति आदि पूर्वक, कायोत्सर्ग करके वन्दना करना अथवा गुरुओं के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शुश्रुषा आदि क्रियायें करना, जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। आसनत्याग-गुरु के सामने उच्च स्थान पर नहीं बैठना। अनुब्रजन-उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इस प्रकार से - (1) अभ्युत्थान,(2) सत्रति(3) आसनदान,(4) अनुप्रदान,(5) प्रतिरूपक्रिया कर्म(6) आसनत्याग और अनुब्रजन ये सात प्रकार कायिक विनय के होते हैं।

अर्थात् धार्मात्मा के चित्त पर अनुग्रह करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार है। प्रतिरूप काल क्रिया विनय-गुरुओं के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवा आदि करना। अनासादनशीलता विनय-आचार्यों आदि की निन्दा नहीं करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं। प्रतिरूप विनय कायिक वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है। कायिक विनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का, मानसिक दो प्रकार का है।

वाचिक और मानसिक विनय के भेद-

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभाषणं च बोधब्बं।  
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥

हिदमिदमद्वअणुवीचिभासणो वाचिगो हवे विणओ।  
असुहमणसणिरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ॥(383)

अर्थात् हित भाषण, मितभाषण, मृदुभाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभ मन का निरोध करना और शुभ में मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

**हित भाषण-** धर्म संयुक्त वचन बोलना, मित भाषण जिसमें अक्षर अल्प हो, अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण-कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नहीं बोलना, अनुवीचिभाषण आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आत्मव करने वाले अशुभ मन को रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म में चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

सतत् अध्ययनशीलता से लाभ

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं।  
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पदिदव्वं॥(98)

भ.आ. 1 पृ. 130

निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थ से पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्यकर्म भाव कर्म रूपी मल का नाशक जिनवचन दिन-रात पढ़ना चाहिये।

जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये। किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं- जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थों का प्रमाण और नय के अनुसार निरूपण करने वाला हो। पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषों से रहित होने से शुद्ध हो। विपुल हो अर्थात् निक्षेप निरूक्त अनुयोगद्वारा और नय इन अनेक विकल्पों से जो जीवादि पदार्थों का विस्तार से निरूपण करता है। निकाचित अर्थात् अर्थ से भरपूर हो। अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो। दूसरों के वचन पुनरुक्त, निर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अतः उनसे जिनवचन उत्कृष्ट हैं क्योंकि जो गुण उनमें सम्भव नहीं है उन गुणों से युक्त है। सब प्राणियों का हितकारी है। दूसरों के मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते हैं। कहा है- वेद का जानने वाला भी ब्राह्मण यदि किसी को मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये। उसे ब्रह्म हत्या का पाप नहीं लगता। तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमल का विनाश करने से जिनवचन पाप का हरने वाला है। उसे रात-दिन पढ़ना चाहिये इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है।

जिनवचन की शिक्षा में गुण  
 आदहिदपइण्णा भावसंबरो णवणवो य संवेगो।  
 णिकंपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च।(99)

आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संबर होता है। नवीन-नवीन संवेग होता है रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है।

जिनवचन के पढ़ने से आत्महित का परिज्ञान होता है- इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं। इन्द्रिय सुख दुःख का प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, राग का सहचारी है, दुर्लभ है? भयकारी है, शरीर का आयासमात्र है, अपवित्र शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखों के विनाश से उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य -आत्मा में स्थितिरूप भाव स्थायी सुख है यह नहीं जानता। वह सुख जिनवचन के अभ्यास से प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणाम का, संबर अर्थात् निरोध भाव संबर है।

ज्ञान से आत्महित-परिज्ञान

णाणेण सब्वभावा जीवाजीवासवादिया तथिगा।  
 णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव।(100)

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। उसी प्रकार से इस लोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है।

‘आत्महित परिज्ञा’ इस पद में तो हित को ही सूचित किया है, जीवादि के परिज्ञान को तो सूचित नहीं किया है तब पहले कहे गये हित का कथन न करके जीवादि परिज्ञान का व्याख्यान क्यों किया है?

आत्महित परिज्ञान का अर्थ आत्मा और हित का परिज्ञान लिया है। ‘आत्मा का हित’ अर्थ नहीं लिया है। अतः जीवादि का व्याख्यान करना युक्त है।

ऐसा अर्थ करने पर भी जीव का ही निर्देश किया है। तब अजीव आदि का उपन्यास क्यों किया?

आत्म शब्द अजीवादि का उपलक्षणरूप होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि ‘जीवाजीवा’ इत्यादि सूत्र में जीव का प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगे के आजीवादि का उपलक्षण किया है। अथवा, आत्मा का ज्ञान हुए बिना उसके हित को जानना कठिन है। आत्मा का परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अतः स्वस्थ का ठीक ज्ञान होने पर स्वास्थ्य का सम्पूर्णज्ञान होता है। अतः आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है- अनंत पदार्थों में व्याप्त और अवग्रह आदि के क्रम से रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो पर

की सहायता के बिना स्वयं होता है उसे एकांत से सुखरूप कहा है। 'इस कथन से यद्यपि अनंतज्ञानरूप सुख को हित स्वीकार किया है यथापि चेतना जीव है और केवल ज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मों के विनाश-रूप होने से जानने योग्य है। कर्मों का ज्ञान अजीव को जाने बिना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बंधपूर्वक होता है। क्योंकि बंध के अभाव में मोक्ष नहीं होता तथा बंध आम्रव के बिना नहीं होता और मोक्ष के उपाय संवर और निर्जरा हैं।

यदि अहित से दुःख लेते हैं तो इस लोक में होने वाला दुःख अनुभव से सिद्ध है। उसमें जिनवचन की क्या आवश्यकता ? यदि अहित के कारण को अहित कहते हैं तो वह कर्म है और अजीव शब्द से उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परा से दुःख का कारण होने से हिंसा आदि को अहित शब्द से लेते हैं तो भी अहित का पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आम्रव में उनका अन्तर्भाव होता है।

इस जन्म में अनुभूत भी दुःख को अज्ञानी भूल जाते हैं इसी से वे सन्मार्ग में नहीं लगते। जिनवचन के द्वारा मनुष्य भव में होने वाली विपत्तियों को बतलाने से उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुल में जन्म होने पर वहाँ रोगरूपी साँप के डसने से उत्पन्न हुई आपत्तियाँ आती हैं। दरिद्रता, भाव्य-हीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और परस्ती की प्राप्ति न होने रूप अग्नि से चित्त का जलते रहना, धनिकों की निन्दनीय आज्ञा का पालन करने पर भी उनके गाली, गलौच, डाँट-फटकार, मारपीट, परवश मरण आदि को सहना पड़ता है।

जब हित का अर्थ हित का कारण लिया जाता है तो इस लोक में दान, तप आदि हित हैं। जैसे जंगली औषधी हित का कारण होने से हित कही जाती है क्योंकि जो दान अदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वंदना करते हैं। कहा भी है- 'दान से लोक में चिरस्थायी यश होता है। दान से वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दान से पराये भी बन्धु हो जाते हैं। अतः सुदाम सदा देना चाहिए॥' तपोधनों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते हैं। परलोक में अहित से मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यंचगति के भव में होने वाला दुःख। और परलोक में हित से मतलब है मोक्षसुख। जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है।

आत्महित का ज्ञान न होने के दोष  
आदहिदमयाणं तो मुज्ज्ञादि मूढो समादिद्यदि कर्मं।  
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमण्ठं। (101)

आत्मा के हित को न जानने वाला मोहित होता है। मोहित हुआ कर्म को ग्रहण करता है। और कर्म का निमित्त पाकर जीव(अणीत) अनंत भवसागर में भ्रमण करता है।

आत्महित या आत्मा और हित को न जानने वाला अहित को हित मानता है। यही मोह

है। इस मोह में क्या दोष है? इसके उत्तर में कहते हैं कि मोही जीव कर्म को ग्रहण करता है। यहाँ पर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभ कर्म ग्रहण करना चाहिए कर्मों के ग्रहण में क्या दोष है? इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म के कारण जीव भवसमुद्र में अनंतकाल तक भ्रमण करता है।

### आत्महित के ज्ञान का उपयोग

जाणांतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य।  
होदिय तो से तम्हा आदहिदं आगमेदब्बं।(102)

आत्महित को जानने वाले के अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है। हिताहित के ज्ञान के पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है। इसलिये(आदहिदं) आत्महित को आगम से सीखना चाहिये।

आत्महित को जानने वाले की हित में प्रवृत्ति हो, किन्तु अहित से निवृत्ति कैसे? जो अहित को जानता है वह अहित से निवृत्त होता है। तथा हित ओर अहित भिन्न हैं। जो जिससे भिन्न होता है उसके जानने पर उससे भिन्न का ज्ञान नहीं होता। जैसे बंदर को जानने पर मगर का ज्ञान नहीं होता। और हित से अहित भिन्न है अतः हित को जानने वाला अहित को नहीं जानता। तब वह कैसे नियम से अहित से निवृत्त होगा?

प्रत्येक वस्तु का जन्म स्व के भाव और पर के अभाव इनदोनों के अधीन है। जैसे घट बड़े पेट आदि आकार वाला होता है, पटादिरूप से उसका ग्रहण नहीं होता। यदि घट का पटरूप से ग्रहण हो तो विपरीत ज्ञान कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हित से विलक्षण अहित को नहीं जानता वह उससे विलक्षण हित का ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः जो हित को जानता है वह अहित को भी जानता है।

शिक्षा अशुभभाव के संवर में हेतु  
सज्जायं कुव्वंतो पंचिंदियसुबुद्धो तिगुत्तो य।  
हवदि य एयगमणो विणएण समाहिदो भिक्खू।(103)

विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पांचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत्त और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है।

वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। उसके अर्थ का कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रंथ के पढ़ाने को वाचना कहते हैं। संदेह को दूर करने के लिये अथवा निश्चित को दृढ़ करने के लिए सूत्र और अर्थ के विषय में पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आमनाय है। कथा के चार प्रकार हैं - आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी। उनके करने को धर्मोपदेश कहते हैं। उस स्वाध्याय को करने वाला पंचेन्द्रिय संवृत्त होता है।

इन्द्रिय के अनेक भेद हैं- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। किन्तु यहाँ इन्द्रिय शब्द से रूपादि विषयक उपयोग कहा गया है। अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्याय करने वाले का रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है।

**रूपादि विषयक उपयोग को रोकने का क्या फल है ?**

रागादि की प्रवृत्ति नहीं होती। राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोग का आश्रय पाकर देते हैं। जिस विषय को जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व मात्र से राग द्वेष को पैदा नहीं करता। क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य और है, उस मनुष्य में विषय के पास में होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते। कहा है- गति में जाने पर शरीर बनता है। शरीर से इन्द्रियाँ बनती हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं। जो विनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह पंचेन्द्रिय संवृत और तीन गुणियों से गुप्त होता है क्योंकि उनका मन अप्रशस्त रागादि के विकार से रहित होता है, झूँठ, रूक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशंसा, परनिंदा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीर के द्वारा हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं करता। तथा स्वाध्याय में लीन साधु एकाग्रमन होता है। अर्थात् ध्यान में भी प्रवृत्ति करता है। जिसका श्रुत से परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते। आज्ञाविच्चय, अपायविच्चय, उपायविच्चय, विपाकविच्चय, लोकविच्चय आदि धर्मध्यान के भेद हैं। अपाय आदि के स्वरूप का ज्ञान जिनागम के बल से ही होता है। कहा भी है- आदि के दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतकेवली के होते हैं।

## **नवीन संवेग के उत्पन्न होने का क्रम**

जह जह सुदमोगाहादि अदिसयरसपरसरसमसुदपुव्यं तं।

तह तहपल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसङ्गाद्। (104)

जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है- तैसे-तैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से आह्वाद युक्त होता है।

जैसे-जैसे श्रुत का अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुत के अर्थ को जानता है। यह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिए। अन्य धर्मों में जो अर्थ नहीं पाया जाता उसे 'अतिशय रस' कहा है। क्योंकि शब्द का रस उसका उर्थ है वही उसका सार है। जैसे आप्रफलादिका रस। प्रसर शब्द से अतिशयित अर्थ की बहुलता सूचित होती है। अतः 'अतिशयित रस प्रसर' का अर्थ है- अतिशय अभिधेय से भरा हुआ श्रुत।

भव्य और अभव्य जीवों के कानों में श्रुत सुनने में आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते हैं? यदि श्रुत के अर्थ का ज्ञान न होने से शब्दमात्र श्रुत का अश्रुत कहते हैं तो यह भी ठीक

नहीं है क्योंकि अर्थ के उपयोग का भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

अभिग्राय यह है कि श्रद्धान् पूर्वक ज्ञान न होने से श्रुत भी अश्रुत होता है। जैसे जैसे श्रुत को अवगाहन करता है वैसे-वैसे नई-नई धर्म श्रद्धा से युक्त होता है।

संसार से भीरुता को संवेग कहते हैं। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नहीं है ? इसमें कोई दोष नहीं है। संसार से भीरुता धर्म परिणाम का कारण है। जैसे शास्त्र के आधात के भय से कवच ग्रहण करते हैं इससे संवेग शब्द संवेग का कार्य जो धर्म है उसको कहता है।

### निष्कम्पता

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ।  
विहरदि विसुज्ज्ञमाणो जावजीवं दु णिकंपो ।(105)

वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला श्रद्धान्, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है।

प्रवचन के अभ्यास से जो यह जानता है कि ऐसा करने से रलंत्रय की वृद्धि होती है और ऐसा करने से हानि होती है, वह श्रद्धान्, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त करता हुआ जीवन्त पर्यंत विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

निःशक्ति आदि गुणों से सम्यग्यदर्शन की वृद्धि होती है और शंका आदि से हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धि से तथा स्वाध्याय में उपयोग लगाने से ज्ञान की वृद्धि होती है। उपयोग न लगाने से तथा नवीन अपूर्व अर्थ को ग्रहण न करने से ज्ञान की हानि होती है। कहा है- ‘पूर्व में ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमें उपयोग नहीं लगाता उसका घट जाता है।’ संयम की भावना से वह अपनी शक्ति को न छिपाकर ज्ञान में उपयोग लगाने से बारह प्रकार के तप की वृद्धि होती है। उससे विपरीत करने में और लौकिक कार्यों में फंसे रहने से तप की हानि होती है। पाप क्रियाओं से सम्यक् रीति से विरत होने को संयम कहते हैं। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पाप क्रिया है अतः चारित्र संयम है। कहा भी है- ‘पाप क्रियाओं से निवृत्ति चारित्र है। उस संयम की वृद्धि पच्चीस भावनाओं से होती हो और उन भावनाओं के अभाव से संयम की हानि होती है। शास्त्राभ्यास के बिना ज्ञान आदि के गुण अथवा दोष को नहीं जानना। जो गुणों को नहीं जानता वह कैसे गुणों को बता सकता है। और जो दोषों को नहीं जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है ? अतः शिक्षा में आदर करना चाहिए।

### स्वाध्याय परमतप

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।  
ण वि अन्थि ण वि होहिदि सज्जायसमं तवो कम्मं ।(106)

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आध्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही।

संसार और संसार के कारण, बंध और बंध के कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय उन वस्तुओं में जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपों में स्वाध्याय के समान तप न है, न होगा न था, इस प्रकार तीनों कालों में स्वाध्याय के समान अन्य तप का अभाव कहा है।

स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनों में ही कर्म को तपसे की शक्ति समान है। फिर कैसे कहते हैं कि स्वाध्याय के समान तप नहीं है?

कर्मों की निर्जरा में हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है इस अपेक्षा से उक्त कथन किया है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भयसयसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण।(107)

दृढ़ठुमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।

तत्तो बहुगुणदरिया होज हु जिमिदस्स णाणिस्स।(108)

सम्यज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है, उस कर्म की सम्यज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तमुहूर्तमात्र में क्षय करता है। अज्ञानी को दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानी को होती है।

इतनी शीघ्रता से कर्मों को काटने की शक्ति अन्य तप में नहीं है, यह स्वाध्याय का अतिशय है।

सज्जायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ।

गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि।(109)

स्वाध्याय भावना में सब गुप्तियाँ भावित होती हैं और गुप्तियों की भावना से मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामों की आराधना में तत्पर होता है।

स्वाध्याय करने पर मनवचनकाय के सब ही व्यापार, जो कर्मों के लाने में कारण है चले जाते हैं। ऐसा होने से गुप्तियाँ भावित होती हैं और तीनों योग का निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रय में लगता है। अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि अनन्तकाल से जिन तीन अशुभयोगों का इस जीव ने अभ्यास किया हुआ है और कर्म का उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यंत कठिन है। स्वाध्याय की भवना ही इसे करने में समर्थ है।

स्वाध्यायशीलः स्व पर प्रकाशक

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्दीवणा भत्ती ।  
होदि परदेसगते अब्बोच्छित्ती य तिथस्स ।(110)

अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरों के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान् की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिन शासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिये, उसका भी पालन होता है। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिन वचन के अभ्यास से जिन वचन में भक्ति प्रदर्शित हती है। दूसरों को उपदेश करने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की अव्युच्छित्ती-परम्परा का अविनाश होता है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है। अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता। वे सदा प्रवर्तित रहते हैं।

अन्यत्र भी कहा है-

सज्जाएण पसत्यं झाणं, जाणाइ य सव्वपइमत्यं ।  
सज्जाए वट्टंतो, खणे खणे जाइ वेरगं ।(338)  
श्री उपदेशमाल, (पृ.515)

“शास्त्र-सम्बन्धी, वाचना, पृच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पंचविध स्वाध्याय करने वाला मुनिवर्य प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है तथा स्वाध्याय से वह सारे परमार्थ (तत्त्व या रहस्य) को अच्छी तरह से जान लेता है। स्वाध्याय करने वाले मुनि को क्षण-क्षण वैराग्य प्राप्त होता रहता है। अर्थात् रागद्वेष रूपी विष दूर होने से निर्विष हो जाता है।”

उहमहतिरियलोए जोईसवेमाणियां य सिद्धि य ।  
सव्वो लोगालोगो सज्जायविउस्स पच्चक्खो ।(339)

स्वाध्याय - वेता मुनि के ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और त्रिर्यग् लोक इन तीनों लोकों का स्वरूप, चन्द्रसूर्यादि ज्योतिष्क, वैमानिक देवों का निवास और सिद्धिस्थान, मोक्ष और सर्वलोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्षवत् हो जाता है। चौदह रजुप्रमाण लोक और इसके भिन्न अपरिमित अलोक का स्वरूप भी स्वाध्याय के बल से ही मुनि जाना जाता है।”

जो निच्चकालं तवसंजमुज्जओ, न वि करेइ सज्जायां ।  
अलसं सुहसीलं जणं न पि तं ठावेइ साहुपए ।(340)

“जो साधु निरंतर तप और पाँच आश्रव के निरोध रूप संयत में उद्याम करता रहता हो, लेकिन अध्ययन - अध्यापनरूपी स्वाध्याय नहीं करता या उससे विमुख रहता है, उस प्रमादी, मुखशील मुनि

को लोग साधुमार्ग में साधुरूप में नहीं मानते। क्योंकि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः दोनों की आराधना करनी चाहिए।'

### विनय का वर्णन:-

विणओ सासणे मूलं विणीओ संजओ भवे।

विणयाओ विष्पमुक्तस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥(341)

"विनय ही शासन अर्थात् जिनभाषित द्वादशांगी में अथवा संघ में मूल है। विनय गुण से अलंकृत साधु ही संयमी होता है। विनय से रहित साधु के धर्म ही कहाँ और तप ही कहाँ? अर्थात् जैसे मूल के बिना शाखा रह नहीं सकती, वैसे ही विनय के बिना धर्म (संयम) और तप दोनों नहीं ठिक सकते।"

विणओ आवहइ सिरि, लहइ विणीओ जसं च कित्तिं च।

न कयाइ दुव्विणीओ, सकजसिद्धिं समाणेइ॥(342)

"विनयी बाह्य- आध्यंतर लक्ष्मी को प्राप्त करता है। विनयवान् पुरुष जगत् में यश और कीर्ति पाता है। परन्तु विनय रहित- दुर्विनीत पुरुष अपने कार्य में कभी सिद्धि (सफलता) प्राप्त नहीं कर सकता। यह जान कर सर्वगुणों के वशीकरण विनयगुण की आराधना अवश्य करनी चाहिये।"

### विनय के 4 लाभ

एक समय भगवान् बुद्ध दीघलम्बक में विहार कर रहे थे। वहाँ विहरते समय एक दिन एक ब्राह्मण ने अपने नन्हे बच्चे और स्त्री के साथ भगवान् के पास आकर प्रणाम किया। भगवान् ने ब्राह्मण और उसकी स्त्री के प्रणाम करने पर "दीर्घायु हो" कहा, किन्तु बच्चे के प्रणाम करने पर मौन धारण कर लिया। यह देखकर ब्राह्मण ने कारण पूछा। भगवान् ने कहा - 'ब्राह्मण' यह बच्चा केवल सप्ताह भर ही जीयेगा।" तब ब्राह्मण ने बच्चे के दीर्घायु होने का उपाय पूछा। भगवान् ने अपने घर मण्डप बना कर सप्ताह भर रात दिन पर परित्राण पाठ कराया। आठवें दिन बच्चे के प्रणाम करने पर शास्ता ने 'दीर्घायु हो' कहा। ब्राह्मण ने पूछा - "भन्ते। यह कितने वर्ष तक जीयेगा?" "सक सौ वर्ष तक।"

एक दिन धर्म सभा में भिक्षुओं में चर्चा होने लगी- देखो आवुस। जो आयुवर्धन कुमार सप्ताह भर में ही मरने वाला था, वह अब सयाना होकर पाँच सौ उपासकों से धिरा विचरता है। जान पड़ता है इन प्राणियों की आयु वृद्धि के कारण है।" भगवान् ने भिक्षुओं की बातों को सुन - "भिक्षुओं। न केवल आयु से ही, यह प्राणी गुणवानों को प्रणाम करते हुए चारों बात में बढ़ते हैं, विघ्न से छूट

जाते हैं और आयु पर्यन्त जीवित रहते हैं।” कहकर धर्मोपदेश देते हुए इस गाथा को कहा-

अभिवादनसीलिस्स निचं वद्वापयाचिनो ।

चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ।(10) धम्मपद

जो अभिवादन शील है जो सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं-

1. आयु 2. वर्ण 3. सुख 4. बल ।

### शास्त्रदान से ज्ञान -प्राप्ति

ज्ञान जीवमात्र का सर्वोत्तम नेत्र है। जिसके यह नेत्र नहीं उसके चर्म नेत्र होने पर भी वह अन्धा है, उसके जीवन का कुछ मूल्य नहीं होता। इसलिए अकिञ्चितकर जीवन को मूल्यवान् बनाने के लिए ज्ञान-दान देना ही चाहिए। यह दान सब दानों का राजा है। और दानों द्वारा थोड़े समय की ओर एक ही जीवन की ख्वाइशें मिटेगी, पर ज्ञान दान से जन्म-जन्म की ख्वाइशें मिटकर वह दाता और वह दान लेने वाला ये दानों ही उस अनन्त स्थान को पहुँच जाते हैं, जहाँ सिवा ज्ञान के कुछ नहीं है- ज्ञान ही जिनका आत्मा हो जाता है। यह हुई परलोक की बात । इसके सिवा ज्ञानदान से इस लोक में भी दाता की निर्मल कीर्ति चारों और फैल जाती है। सारा संसार उसकी शत मुख से बड़ाई करता है। ऐसे लोग जहाँ जाते हैं वही उनका मनमाना सादर आदर होता है। इसलिए ज्ञान-दान भुक्ति ओर मुक्ति इन दानों का ही देने वाला है। अतः भव्यजनों को उचित है- उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञान-दान करें और दूसरों को भी इस पवित्र मार्ग में आगे करें। इस ज्ञान-दान के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि यह सम्यक्फूपने को लिये हुए हो अर्थात् ऐसा हो कि जिससे किसी जीव का अहित -बुरान हो, जिसमें किसी तरह का विरोध या दोष न हो। क्योंकि कुछ लोग उसे भी ज्ञान बतलाते हैं, जिसमें जीवों की हिंसा को धर्म कहा गया है- धर्म के बहाने जीवों को अकल्याण का मार्ग बतलाया जाता है और जिसमें कहीं कुछ कहा गया है और कहीं कुछ कहा गया है- जो परस्पर का विरोधी है। ऐसा ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान है। इसलिए सच्चे-सम्यग्ज्ञान-दान देने की आवश्यकता है। जीव अनादि से कर्मों के वश हुआ अज्ञानी बनकर अपने निज ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप को भूल गया है और माया-ममता के पेंचीले जाल में फँस गया है, इसलिए प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सके। ऐसी दशा में इसे असुख का रास्ता बतलाना उचित नहीं। सुख प्राप्त करने का सच्चा प्रयत्न सम्यग्ज्ञान है। इसलिए दान, मान, पूजा प्रभावना, पठन-पाठन आदि से इन सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करने की पाँच भावनाएँ ये हैं- उन्हें सदा उपयोग में लाते रहना चाहिए। वे भावनाएँ हैं- वाचना-पवित्र ग्रन्थ का स्वयं अध्ययन करना या दूसरों पुरुषों को कराना, पृच्छना-किसी प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए परस्पर में पूछ-ताछ करना, अनुप्रेक्षा- शास्त्रों में जो विषय पढ़ा हो या सुना हो उसका बार-बार मनन-चिन्तन करना, आम्नाय पाठ का शुद्ध पढ़ना या शुद्ध ही

पढ़ाना, और धर्मोपदेश -पवित्र धर्म का भव्यजन को उपदेश करना। ये पाँचों भावनाएं ज्ञान बढ़ाने की कारण है। इसलिए इनके द्वारा सदा अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने से एक दिन वह आयेगा जब कि केवल-ज्ञान भी प्राप्त हो जायेगा। इसलिए कहा गया कि ज्ञान सर्वोत्तम दान है। और यही संसार के जीवमात्र का हित करने वाला है। पुरा काल में जिन-जिन भव्यजनों ने ज्ञानदान किया आज तो उनके नाम मात्र का उल्लेख करना भी असंभव है, तब उनका चरित्र लिखना तो दूर रहा। अस्तु, कौण्डेश का चरित्र ज्ञानदान करने वालों में अधिक प्रसिद्ध है। इसलिए उसी का चरित्र संक्षेप में लिखा जाता है।

जिन धर्म के प्रचार या उपदेशादि से पवित्र हुए इस भारतवर्ष में कुरुमरी गाँव में गोविन्द नाम का एक गवाला रहता था। उसने एक बार जंगल में एक वृक्ष की कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रन्थ देखा। उसे वह अपने घर पर ले-आया और रोज-रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदि नाम के महात्मा को गोविन्द ने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनि की भेंट कर दिया।

यह जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ द्वारा पहले भी मुनियों ने यहाँ भव्यजनों को उपदेश किया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिन धर्म की प्रभावना की है और अनेक भव्यजनों को कल्याण मार्ग में लगाकर सच्चे मार्ग का प्रकाश किया है। अन्त में वे इस ग्रन्थ को इसी वृक्ष की कोटर में रखकर विहार कर गए हैं। उनके बाद जबसे गोविन्द ने इस ग्रन्थ को देखा तभी से वह इसकी भक्ति और श्रद्धा से निंतर पूजा किया करता था। इसी समय अचानक गोविन्द की मृत्यु हो गई। वह निदान करके इसी कुरुमरी गाँव में गाँव के चौधरी के यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगों की आँखें इस पर से हटती ही न थीं- सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगों के मन को प्रसन्न करना-उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्य की महिमा है। इसके पछे में पूर्व जन्म का पुण्य था। इसलिए इसे ये सब बातें सुलभ थीं।

एक दिन इसने उन्हीं पद्मनंदि मुनि को देखा, जिन्हें कि इसने गोविन्द गवाला के भव में पुस्तक भेंट की थी। उन्हें देखकर इसे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। मुनि को नमस्कार कर तब धर्म प्रेम से इसने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इसकी प्रसन्नता का कुछ पार न रहा। यह बड़े उत्साह से तपस्या करने लगा। दिनों दिन इसके हृदय की पवित्रता बढ़ती ही गई। आयु के अन्त में शान्ति से मृत्यु लाभ कर यह पुण्य के उदय से कौण्डेश नाम का राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा वीर था। तेज में वह सूर्य के टकर लेता था। सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेव को भी नीचा मुँह कर लेना पड़ता था। उसकी स्वभाव- सिद्ध कान्ति को देखकर मानो लज्जा के मारे बेचारे चन्द्रमा का हृदय ही काला पड़ गया। शत्रु उसका नाम सुनकर कांपते थे। वह बड़ा ऐश्वर्यवान् था, भाग्यशाली था, यशस्वी था और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करता था। अपनी सन्तान के माफिक ही उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्ति से उसका समय बीतता था।

इस तरह कौण्डेश का बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसार में बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसार को अस्थिर, विषय भोगों को रोग के समान, सम्पत्ति को बिजली की तरह चंचल-तत्काल देखते-देखते नष्ट होने वाली, शरीर को मांस, मल, रुधिर, आदि महा अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ, दुःखों का देने वाला धिनौना और नाश होने वाला जानकर सबसे उदासी हो गया। इस जैनधर्म के रहस्य को जानने वाले कौण्डेश के हृदय में वैराग्य भावना की लहरें लहराने लगीं। उसे अब घर में रहना कैद खाने के समान जान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्र को सौंप कर जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिन भगवान् की पूजा की, जो सब सुखों का कारण है। इसके बाद निर्ग्रन्थ गुरु को नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया। पूर्व जन्म में कौण्डेश ने जो दान किया था, उसके फल से वह थोड़े ही समय में श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरुषों को भी ज्ञान-दान देकर अथवा आत्महित करना चाहिए। जो भव्यजन संसार के हित करने वाले इस ज्ञान-दान की भक्ति पूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन लिखने लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्व के कारणों से आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश ऐश्वर्य उत्तम कुल, गोत्र, दीर्घायु आदि का मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाय किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्ष का सुख भी प्राप्त कर सकते। अठारह दोष रहित जिन भगवान् के ज्ञान का मनन चिन्तन करना उच्च सुख का कारण हैं। (आराधना कथा कोष पृ. 643)

## अध्याय = 8 आध्यात्मिक शिक्षा

### आध्यात्मिक विद्यास-विज्ञान-चारित्र: सत्य -विद्या

जिस प्रकार बीज में ही पूर्ण विकसित वृक्ष के सम्पूर्ण अवयव शक्ति रूप में/ अविकसित रूप में / गुप्त रूप में रहते हैं उसी प्रकार संसार में सम्पूर्ण अविकसीत, विकासशील जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुण अविकसित या विकासशील अवस्था में रहते हैं। जिस प्रकार बीज को योग्य जल, वायु, सूर्यरश्मि मिलने पर बीज में निहीत सुप्त अंकुर अंकुरित होकर धीरे-धीरे विकास को प्राप्त कर पूर्ण वृक्ष रूप में परिणमन करता है उसी प्रकार जिसके माध्यम से यह जीव पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य को प्राप्त कर लेता है उसे ही शिक्षा, दीक्षा, विद्या, संस्कार कहते हैं। इसलिए स्वामी विवेकानन्द जी बोलते थे “स्वयं में निहीत शक्तियों का परिमार्जित करना, विकास करना एवं पूर्णता को प्राप्त करना ही वास्तविक शिक्षा है।” विद्या की परिभाषा करते

हुए कहा है कि “सा विद्या या विमुक्तये” अर्थात् वही विद्या, विद्या है जिससे हमें पूर्ण स्वाधीनता, पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है। पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये समस्त राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक बन्धन से मुक्त होना अनिवार्य है। अर्थात् विद्या से उपर्युक्त बन्धन को तोड़ना ही विद्या प्राप्त करने का फल है। यदि कोई विद्या प्राप्त करके उपर्युक्त बन्धनों को नहीं तोड़ता है तो उसकी विद्या यथार्थ से विद्या नहीं है परन्तु कुविद्या है, अविद्या है। केवल अर्थकारी विद्या लौकिक विद्या है परन्तु पारमार्थिक, आध्यात्मिक विद्या नहीं है। इस प्रकार विद्या को हम कह सकते हैं “सा विद्या या भुक्तये न च मुक्तये” अर्थात् यह विद्या केवल भुक्ति के लिए है, पेट पोषण करने के लिए है, धन कमाने के लिए है अथवा पेट-पेटी-प्रजनन के लिए है। केवल लौकिक विद्या से आत्मा की सिद्धी होती नहीं परन्तु आक्षरिक आध्यात्मिक विद्या भी आत्मकल्याण के लिए कार्यकारी नहीं है।

आध्यात्मिक शब्द ज्ञान जीव को मोक्ष प्राप्त कराने के लिये अकिञ्चित्कर है। इस सिद्धान्त को जैन आध्यात्मिक साधक के साथ-साथ जैनेतर साधकों ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकर किये हैं-

वीणाया रूप सौन्दर्य तन्त्रीवादनसौष्ठम् ।  
प्रजारञ्जनमात्रं तत्र साप्राज्याय कल्पते ॥(59) (विवेक चूडामणि)  
वाग्वैखरी शब्दज्ञारी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।  
वैदुष्यं विदुषां तद्वक्तये न तु मुक्तये ॥(60)

जिस प्रकार वीणा का रूप लावण्य तथा मंत्री को बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का ही कारण होता है, उससे कुछ साप्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र व्याख्यान की कुशलता और विद्वत्ता भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।  
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥(61) (विवेक चूडा.)

परम तत्व को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल(व्यर्थ) ही है, और यदि परम तत्व को जान लिया जाये तो शास्त्राध्ययन निष्फल(अनावश्यक) ही हैं।

शब्दजालं महारण्यं, चित्तभ्रमणकारणम् ।  
अतः प्रयत्नाज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्वमात्मनः ॥(62)

शब्द जाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है, इसलिए किन्हीं तत्त्वज्ञानी से प्रयत्नपूर्वक आत्म तत्व को जानना चाहिए।

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।  
किमु वैदैश्च शास्त्रैश्च किमु मंत्रैः किमौषधैः ॥(63)

अज्ञान रूपी सर्प से डंसे हुए को ब्रह्मज्ञान रूपी औषधि के बिना वेद से, शास्त्र से, मन्त्र से और औषध से क्या लाभ ?

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।  
बिनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥(64)

औषध को बिना पिये केवल औषध-शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल “ब्रह्म-ब्रह्म” कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रिवम् ।  
राजाहमिति शब्दान्ते राजा भवितुर्महति ॥(66)

बिना शत्रुओं का वध किये और बिना सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल का ऐश्वर्य प्राप्त किये, मैं राजा हूँ- ऐसा कहने से ही कोई राजा नहीं हो जाता।

आपोक्ति खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं ।  
 निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दस्तु निर्गच्छति ॥  
 तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्भयते ।  
 माया कार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥(67)

(पृथ्वी में गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिये जैसे) प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुष के कथन की, और पृथ्वी के खोदने, कंकड़-पत्थर आदि को हटाने तथा(प्राप्त हुए धन को) स्वीकार करने की आवश्यकता होती है- कोरी बातों से बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार समस्त शास्त्रिक प्रपञ्च से शून्य निर्मल आत्म तत्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासनादि से ही प्राप्त होता है, थोथी बातों से नहीं।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।  
स्वैश्व यत्तः कर्तव्यो रोगादिविव पण्डितैः ॥(68)

इसलिए रोग आदि के समान भव-बंध की निवृत्ति के लिये विद्वान् को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए।

द्रव्य दृष्टि से शक्ति रूप से अभव्य निगोदियाँ जीव से लेकर छद्मस्थ अवस्था तक आत्मा शुद्ध होते हुए भी पर्याय रूप से, व्यक्त रूप से आत्म द्रव्य अशुद्ध है। उस शक्ति को व्यक्तिकरण करने

के लिए आध्यात्मिक प्रणाली का आचरण कहते हैं। आचरण शुद्धि से ही आत्म द्रव्य में शुद्धि आती है एवं द्रव्य शुद्धि से ही आचरण में शुद्धि आती है। कहा भी है-

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारिद्रव्यं, मिथो द्रव्यमिदं ननु सव्यपेक्षम्।

तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं, द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥(12)

(प्रवचनसार)

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है। इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये या तो द्रव्य को आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु(ज्ञानी, मुनि) मोक्ष मार्ग में आरोहण करो।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धैः।

बुद्धध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥(13)

द्रव्य की सिद्धी में चरण की सिद्धी है और चरण की सिद्धी में द्रव्य की सीद्धी है- यह जानकर, कर्मों से(पापों से) अविरत तथा अन्य भी, द्रव्य से अविरुद्ध चरण का आचरण करो अर्थात् चरित्र का पालन करो।

केवल बौद्धिक या शास्त्रीय ज्ञान से चरित्र न होने पर मोक्ष प्राप्ति तो अत्यन्त दूर ही किन्तु सुगति भी प्राप्त दुष्कर है। कुंदकुंद स्वामी ने कहा भी है-

जहाँ विसय लोलएहिं णाणीहिं हविज सहिदो मोक्खो।

तो सो सच्चइ पुत्तो दस पुव्वीओ वि किं गदो णरय ॥(30) (शील पाहुड)

यदि विषय कषाय से लिप्त होते हुए ज्ञान से ही मोक्ष होता है तो बताओ दश पूर्व के ज्ञाता सात्यकी पुत्र क्यों नरक गया ? कहने का भावार्थ यह है कि सात्यकी का पुत्र ज्ञानी होते हुए भी विषयों में रत होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति तो दूर की रही सुगति भी नहीं मिली परन्तु उनको नरक जाना पड़ा। इसलिये विपुल बौद्धिक एवं शास्त्रीय ज्ञान मोक्ष के लिये विशेष सहकारी नहीं है -

बहुयङ्गं पठियङ्गं मूढं पर, तालु सुक्कडं जेण।

एकजु अक्करु तं पढ़हु सिवपुरी गम्मडं जेण ॥

रे मूढ़! बहिरात्मन् बहुत ही शास्त्र का पठन किया जिनसे तालू सूख गया परन्तु शाश्वतिक, सुख या आत्मज्ञान नहीं मिला। अभी तू अन्तरात्मा होकर एक भी अक्षर पढ़ जिससे तुमको शिवपुर की गति मिले। कविरदास ने कहा है-

पोथी पढ़-पढ़ जगमुआ, पंडित भया न कोय।  
 ढाई अक्षर प्रेम का(आत्मा) पढे सो पंडित होय॥  
 जो णवि जाणइ अप्पु परू णवि पर भाई चएङ्ग।  
 सो जाणउ सत्थँड़ सयल ण हु सिव सुकछु लहेइ॥(96)(योगसार)

जो न तो परमात्मा को जानता है और न परभाव का त्याग ही करता है, वह भले ही समस्त शास्त्रों को जान जाये परन्तु वह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता।

इससे विपरीत अल्पज्ञों ने भी चारित्र एवं भावशुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण कर्म बन्धनों का विघ्नसंकरण करके शुद्ध-बुद्ध नित्य निरंजन पदवी को प्राप्त किये हैं।

तुसमासं घोसंतो भाव विसुद्धो य महाणुभावो य।  
 णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥(53)(भाव पाहुड़)

शिवभूति नामक एक अल्पज्ञ मुनि तुसमास रटते हुए सचारित्ररूप भाव विशुद्धि से सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये।

आगम में ऐसे अनेकों प्रमाण मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि अनेक मुनिश्वरों को णमोकार मन्त्र भी नहीं आता था इतना ही नहीं गुरुप्रदत्त “मा रूसह मा तुसह” शब्द का भी ज्ञान नहीं था तो भी निर्मल चारित्र रूप भाव विशुद्धि से श्रेणि आरोहण करके लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त कर लिये, परन्तु सच्चारित्र के बिना सर्वार्थ सिद्धि के देव जो कि क्षायिक सम्यक्-दृष्टि, बाल ब्रह्मचारी एवं सतत् तत्त्व चिंतन करने वाले 33 सागर तक आत्मचिंतन करते हुए भी मोक्ष की बात तो दूर है किन्तु देशब्रत रूप श्रावकावस्था या सर्व विरति रूप मुनि अवस्था को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

उपरोक्त प्रतिपादन से यह सिद्धान्त प्रतिफलित नहीं होता है कि मोक्ष मार्ग में सम्यक् ज्ञान का योगदान कुछ है ही नहीं है परन्तु जो ज्ञान को प्राप्त करके तदनुकूल आचरण नहीं करता है उनके लिये मोक्ष प्राप्ति के निमित्त यह ज्ञान विशेष कार्यकारी नहीं है। कुन्दकुन्द देव ने कहा है-

णाणस्स णथि दोसो कुप्पुरिसाणो वि मंद बुद्धिणो।  
 जे णाणगव्विदा होऊण विसएसु रंजति॥(10)(शील पाहुड़)

जो कुपुरूष मन्दबुद्धिजन ज्ञान से गर्वित होकर विषयों में रचता-पचता है उसमें ज्ञान का कोई दोष नहीं है।

विसएसु मोहिदाणं कहियं मगं पि इतुदरिसिणं।  
उम्मगं दरसीणं णाणं णिरत्थयं तेसिं॥(23) (शील पाहड़)

जो विषयों से मोहित है, जो उन्मार्गामी इष्ट दर्शी द्वारा कथित मार्ग के ज्ञान के ज्ञाता होते हुए भी उनका ज्ञान निरर्थक है।

जदि पडिदि दीवहत्थो अबडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।  
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलम्॥

हस्त में दीपक होते हुए भी और कुएँ को देखते हुए भी जो कुएँ में गिरता है उसके हस्त में स्थित दीपक क्या कर सकता है ? क्या गिरते हुए मनुष्य को दीपक बचा सकता है, कदापि नहीं। अथवा दीपक हस्त मनुष्य कुएँ में गिरने पर दीपक का कोई दोष होगा ? कदापि नहीं होगा। इसी प्रकार जो ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके भी ज्ञानानुसार आचरण नहीं करता, उसकी शिक्षा के ज्ञान का क्या फल रहा ? अर्थात् कोई नहीं।

बहुंपि सुदमधिदं किं काहदि अ जाण माणस्स।  
दीव विसेसो अंधे णाण लिसेसो वि तह तस्स॥

जो आत्मज्ञान से रहित है वह बहुश्रुत का अध्ययन करने पर भी क्या करेगा ? जैसे -अन्धे के लिए दीपक कोई विशेष कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग ज्ञान या चारित्र सम्पन्न ज्ञान रहित उसका विपुल श्रुतज्ञान क्या करेगा ?

शास्त्रामौ मणिवदभव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।  
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥(73) आत्मानुशासन

शास्त्ररूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त हुआ शोभायमान होता है किन्तु दुष्ट जीव(अभव्य) उस शास्त्र रूप अग्नि में प्रदीप्त होकर मलिन व भस्म स्वरूप हो जाता है।

यस्स नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः।  
न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वी पाक रसानिव॥

जो हिताहित विवेक से रहित होकर बहुश्रुतज्ञ है वह शास्त्रों के रहस्य को नहीं जान सकता है। जैसे-चम्मच विभिन्न रसयुक्त व्यञ्जनों से लिप्त होने पर भी रस को नहीं जान सकता है। इसलिये कौटिल्य चाणक्य ने भी कहा है -

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसकी स्वयं की प्रज्ञा शक्ति नहीं है उसके लिए शास्त्र क्या कर सकता है? जिसकी दृष्टि शक्ति नहीं है उसके लिए दर्पण क्या कर सकता है? अर्थात् अंधा व्यक्ति स्वच्छ से स्वच्छ बड़े से बड़े दर्पण में भी अपना मुख नहीं देख सकता है उसी प्रकार विषयान्ध व्यक्ति आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता है क्योंकि विषय वासना रूपी धन परदा उनके प्रज्ञा रूपी चक्षु को आवृत करके रखती है। यथा-

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धी कृते क्षणः ।

चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥(35)(आत्मानुशासन)

जिसके नेत्र इन्द्रिय विषयों के द्वारा अन्धे कर दिये गये हैं अर्थात् विषयों में मुग्ध रहने से जिसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस प्रसिद्ध अंधे से भी अधिक अंधा है, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षु के ही द्वारा नहीं जान पाता है परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तु स्वरूप को नहीं जान पाता है।

उपरोक्त कथन एवं उदाहरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि सम्यक् ज्ञान मोक्ष मार्ग के लिये बाधक है अथवा ज्ञानी लोग विषय वासना में रत रहते हैं। परन्तु उसका रहस्य यह है कि ज्ञान को प्राप्त करके भी यदि तदनुकूल आचरण नहीं करेंगे तथा राग द्वेषात्मक परिणमन करेंगे तो निश्चित रूप से कर्म बन्ध होगा ही। “‘णाणं पयासणं’” ज्ञान तो प्रकाश स्वरूप है जैसे अन्धकार में कुछ दिखाई नहीं देता है किन्तु प्रकाश होने पर सर्प कांटा, धन, विष, सम्पत्ति आदि दिखाई देते हैं। परन्तु कोई प्रकाश से विष को पहचान कर भी विषः पान करेगा तो प्रकाश विषपान करने से रोकेगा नहीं तथा प्रकाश में भी विषपान करने से विष का परिणाम तो होवेगा ही। उसी प्रकार ज्ञान होते हुए भी पर वस्तु के प्रति आकर्षण-विकर्षण होने पर कर्मास्त्रिव एवं बन्ध होगा जिससे संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। परन्तु ज्ञान में एवं चारित्र में विरोध नहीं है किन्तु उत्तरोत्तर ज्ञान वृद्धि होने पर चारित्र में विशुद्धता आती है जिससे चारित्र भी उत्तरोत्तर वर्धमान होता है। यथा -

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्विद्वतो ।

णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणसंति ॥(24) (शील पाहुड़)

अनन्त केवली बुद्धों के द्वारा निर्दिष्ट है कि चारित्र एवं ज्ञान का परस्पर में कोई विरोध नहीं है। अपरज्ञ शील के बिना विषय सुख से ज्ञान का विनाश हो जाता है।

णाणं णाऊण णरा कोई विसयाइ भाव संसज्जा ।

हिंडति चदुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥(7) (शील पाहुड़)

कुछ मनुष्य ज्ञान को जानते हुए भी विषय वासना से भावित होकर विषयों में विमोहित मूढ़

होकर चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं।

जह विसलुद्ध विसदो तह थावर जंगमाण घोराणं ।

सब्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारूणं होई॥(21) (शील पाहुड़)

स्थावर, जंगम विष से भी विषय रूपी विष अत्यन्त भयंकर है। विषय रूपी विष से सुगति, मोक्षगति आदि विनाश हो जाती है। विषय रूपी विष अत्यन्त दारूण है।

वारि एकम्मि य जम्मे सरिज विसवेयणाहदो जीवो ।

विसयविसपरिहराणं भमंति संसार कांतारे॥(22) (शील पाहुड़)

विष पान से एक बार मरण करके अन्य गति में जीव उत्पन्न होता है परन्तु विषय रूपी विष सेवन से संसार रूपी वन में अनेक बार परिभ्रमण करना पड़ता है।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसण विहीणं ।

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं॥(5) (शील पाहुड़)

चारित्रहीन ज्ञान, दर्शन विहिन मुनिवेषादि धारण, इन्द्रिय मन एवं प्राणी संयम रहित तप जो आचरण करता है वह सर्व निर्थक होता है।

उपरोक्त नानाविध उदाहरण एवं कथन प्रणालियों से यह सिद्ध होता है कि रत्नत्रय परस्पर विरोधी या घातक नहीं है परन्तु परस्पर अनुपूरक-परिपूरक तथा सहकारी है। क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान में सम्यक्षणा आता है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यज्ञान से चारित्र में सम्यक्त्वपना आता है तथा चरित्र दृढ़ एवं उत्तरोत्तर विशुद्ध होता है। सम्यग्दर्शन तो प्रासाद(भवन) के लिये नींव के समान आधारशिला है। बिना सम्यग्दर्शन के रत्नत्रय रूप प्रसाद नहीं टिक सकता है। नींव के बिना प्रासाद नहीं टिकने पर भी नींव ही प्रासाद नहीं है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना रत्नत्रय रूपी महल नहीं टिकने पर भी सम्यग्दर्शन ही रत्नत्रय नहीं है।

सम्यज्ञान तो दो कमरे के बीच में स्थित देहली के ऊपर रखा हुआ दीपक के सदृश है। जैसे वह दीपक दोनों कमरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सम्यज्ञान रूपी दीपक सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को प्रकाशित करता है। प्रकाश से हिताहित का परिज्ञान होते हुए प्रकाश स्वयं हित वस्तु को ग्रहण कर अहित वस्तु का परिहार नहीं कर सकता है। श्रद्धा से मानकर ज्ञान से जानकर एवं आचरण से माना हुआ, जाना हुआ कार्य का सम्पादन होता है। अर्थात् विश्वसनीय एवं ज्ञान से ज्ञात लक्ष्य बिन्दु को तदनुकूल पुरुषार्थ के माध्यम से लक्ष्य बिन्दु में पहुँचकर लक्ष्य की पूर्ति कर लेते हैं। कुन्द-कुन्द स्वामी ने चारित्र पाहुड़ में कहा भी है-

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारितं॥(3) (चारित्र पाहुड़)

जो जानता है वह ज्ञान है जो देखता है वह दर्शन है, ज्ञान एवं दर्शन समापन या समायोग में चारित्र होता है।

ए तिणि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।

तिणि वि सोहणत्थे जिण भणियं दुवियं चारितं॥(4) (चा.पा.)

यह सम्यगदर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप तीन भाव जीव के अक्षय अनंत स्वभाव स्वरूप हैं। इन तीनों भावों की विशुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार एवं निश्चय दो प्रकार के चारित्र कहे हैं।

सम्पत्त चरण सुद्धा संजम चरणस्स जड व सुपसिद्धा।

णाणी अमूढ दिद्धी अचिरे पावंति णिव्वाण॥(3) (चारित्र प्राभृत)

सम्यक्त्व सम्बन्धी सम्पूर्ण दोषों से रहित सम्यक्त्व गुण से अलंकृत जो होता है वह सम्यक्चारित्र से विशुद्ध होता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में होता है। चरणानुयोग के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होने पर भी अष्टमद, शंकादि अष्ट दोष अंग, षट् अनायतन आदि का त्याग एवं निशंक आदि अष्ट दोष अंग, संवेगादि अष्ट गुणादि सहित होना ही इस गुणस्थान सम्बन्धी चारित्र है। इसको ही सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहते हैं। सम्यक्त्वाचरण सहित जो महामुनिश्वरों का महाब्रतादि रूप संयमाचरण से अत्यन्त प्रकृष्ट रूप से सर्वलोक सुप्रसिद्ध है। ऐसे महान् चारित्र साधक निर्वाण को स्वल्प काल में ही प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर चारित्र मुख्य होने पर भी सम्यगदर्शन एवं सम्यज्ञान की समग्रता को भी कहा गया है।

सीलं रक्खताणं दंसण-सुद्धाणं दिद चरित्ताणं।

अथि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं॥(12) (शील पाहुड़)

जो शील के संरक्षक हैं, दर्शन के विशुद्ध हैं, दृढ़ चारित्र निष्ठ हैं, विषय वासना से विरक्त चित्त वाला है उसके लिये निर्वाण धूव सुनिश्चित है।

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं॥(20) (शील पाहुड़)

शील, विषय कषाय का परम शत्रु है अर्थात् शील पालने से शील के प्रभाव से विषय कषाय रूप शत्रु विघ्वंस हो जाते हैं। शील मोक्ष महल के लिये सोपान स्वरूप है।

जेण तच्चं विबुज्जेज्ज जेण चित्तं णिरूज्जदि।

जेण अत्ता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिण सासणे॥(267) (मूलाचार)

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता

है जिन शासन में उसका नाम ज्ञान है।

जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है, जीव वीतराग हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वही ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने के लिए उपाय भूत है। वह ज्ञान संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अकिञ्चित्कर से रहित है।

जेण रागा विरजेज जेण सेएसुं रज्जदि।

जेण मिर्तीं पभावेज तं णाणं जिणसासणे ॥(268) (मूलाचार)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भाषित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

जिसके द्वारा जीव राग-स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है- पराइमुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावना अर्थात् द्वेष का अभाव करता है, जिन शासन में वही ज्ञान है। तात्पर्य यह हुआ।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानानिनां क्रिया।

धावन् किलांधको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥(1)

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा, न होकचक्रेण रथः प्रयाति।

अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टो, तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टो ॥(2)

कहा भी है क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल होती है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार अन्धा इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है, उसी प्रकार लंगड़ा देखता हुआ भी जल जाता है: क्योंकि एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है। अतः ज्ञान और क्रिया का संयोग ही कार्यकारी है- ऐसा विद्वानों का कथन है। एक अन्धा और एक लंगड़ा दोनों मिल जायें और अन्धे के कन्धे पर लंगड़ा बैठ गये जाये तो दोनों का ही उद्धार हो जाये। लंगड़ा रास्ता बताकर ज्ञान का कार्य करे और अन्धा पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों का ही उद्धार हो जाये। दोनों ही नगर में आ सकते हैं।

शंकराचार्य ने भी कहा है -

लब्ध्वा	कथञ्चिन्नरजन्म	दुर्लभं
तत्रापि	पुंस्त्वं	श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न	यतेत	मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं	विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ।(4)	

किसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर और उसमें भी, जिसमें श्रुति के सिद्धान्त का ज्ञान होता है ऐसा पुरुषत्व को पाकर जो मूढ़बुद्धि अपने आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है; वह असत् में आस्था रखने के कारण अपने को नष्ट करता है।

इतः कोऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थं प्रमाद्यति ।  
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ।(5)

दुर्लभ मनुष्य देह और उसमें भी पुरुषत्व को पाकर जो स्वार्थ-साधन में प्रसाद करता है, उससे अधिक मूढ़ और कौन होगा ?

वदन्तु	शास्त्राणि	यजन्तु	देवान्
कुर्वन्तु	कर्माणि	भजन्तु	देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन		विना	विमुक्ति
न	सिद्ध्यति		ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।(6)

भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करें, देवताओं का यजन करें, नाना शुभ कर्म करें, अथवा देवताओं को भजें, तथापि जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी(अर्थात् सौ कल्प में भी) मुक्ति नहीं हो सकती।

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनत्येव हि श्रुतिः ।  
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ।(7)

क्योंकि 'धन से अमृतत्व की आशा नहीं है' यह श्रुति 'मुक्ति का हेतु कर्म नहीं है', यह बात स्पष्ट बतलाती है।

अतो	विमुक्त्यै	प्रयत्नेत	विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः			सन् ।
सन्तं	महान्तं	समुपेत्य	देशिकं
		तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ।(8)	

इसलिए विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगों की इच्छा त्याग कर सन्तशिरोमणि गुरुदेव की शरण जाकर उनके उपदेश किये हुए विषय में समाहित होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करें।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।  
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठ्या ।(9)

और निरन्तर सत्य आत्मा के दर्शन में रहता हुआ योगारूढ होकर संसार-समुद्र में ढूबे हुए अपने आत्मा का आप ही उद्धार करें।

सन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।  
यत्यतां पण्डितैर्धीरात्माभ्यास उपस्थितैः ।(10)

आत्माभ्यास में तत्पर हुए धीर विद्वानों को सम्पूर्ण कर्मों को त्याग कर भव बन्धन की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

चित्स्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।  
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ।(11)

कर्म चित्त की शुद्धि के लिये ही है, वस्तुपलब्धि(तत्त्वदृष्टि) के लिये नहीं। वस्तु सिद्धि तो विचार से ही होती है, करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता ।

सम्यग्विचारतः सिद्धा रजुतत्वावधारणा ।  
भ्रान्त्योदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ।(12)

भलीभाँति विचार से सिद्ध हुआ रजुतत्व का निश्चय भ्रम से उत्पन्न हुए महान् सर्पभय रूपी दुःख को नष्ट करने वाला होता है ।

अर्थस्य निश्चयो दृष्टे विचारेण हितोक्तिः ।  
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ।(13)

कल्याणप्रद उक्तियों द्वारा विचार करने से ही वस्तु का निश्चय होता देखा जाता है; स्नान, दान अथवा सैकड़ों प्राणायामों से नहीं ।

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धि विशेषतः ।  
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ।(14)

विशेषतः अधिकारी को ही फल-सिद्धि होती है; देश, काल आदि उपाय भी उसमें सहायक अवश्य होते हैं ।

अतो विचारः कर्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।  
समासाद्य दयासिन्धुं गुरु ब्रह्मविदुत्तमम् ।(15)

अतः ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ दया- सागर गुरुदेव की शरण में जाकर जिज्ञासु को आत्म-तत्त्व का विचार करना चाहिए ।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः ।  
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः ।(16)

जो बुद्धिमान् हो, विद्वान् हो और तर्क-वितर्क में कुशल हो ऐसे लक्षणों वाला पुरुष ही आत्मविद्या का अधिकारी होता है।

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।  
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥(17)

जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान् शम-दमादि षट्सम्पत्तियुक्त और मुमुक्षु हो उसी में ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता मानी गयी है।

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।  
येषु सत्स्वेव सत्रिष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥(18)

मनस्वियों ने जिज्ञासा के चार साधन बताये हैं, उनके होने से ही सत्यस्वरूप आत्मा में स्थित हो सकती है, उनके बिना नहीं।

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।  
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥(19)  
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।

पहला साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक गिना जाता है, दूसरा लौकिक एवं पारलौकिक मुखभोग में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा मुमुक्षुता है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।  
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥(20)

‘ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या(अनात्म-स्वरूप, पररूप) है’ ऐसा जो निश्चय है वही ‘नित्यानित्यवस्तु विवेक’ कहलाता है।

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ।  
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥(21)

दर्शन और श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो वृणाबुद्धि है वही ‘वैराग्य’ है।

विरज्य विषयव्रातादोषदृश्या मुहुर्मुहुः ।  
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ॥(22)

बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषय-समुह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही 'शम' है।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।(23)

उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तिः ।

बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥(24)

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों को उनके विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थित करना 'दम' कहलाता है। वृत्ति का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना यही उत्तम 'उपरति' है।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।

चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥(25)

चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।

सा श्रद्धा कथिता सद्विर्यया वस्तूपलभ्यते ॥(26)

शास्त्र और गुरु वाक्यों में सत्यत्व बुद्धि करना-इसी को सज्जनों ने 'श्रद्धा' कहा है, जिससे कि वस्तु की प्राप्ति होती है।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।

तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥(27)

अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना इसी को 'समाधान' कहा है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है।

अहङ्कारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।

स्वस्वरूपावबोधेन मोक्षमिच्छा मुमुक्षुता ॥(28)

अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूप में ज्ञानद्वारा त्यागने की इच्छा 'मुमुक्षुता' है।

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना ।

प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥(29)

वह मुमुक्षुता मन्द और मध्यम भी हो तो भी वैराग्य तथा शमादि षट्सम्पत्ति और गुरुकृपा

से बढ़कर फल उत्पन्न करती है।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।  
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ।(30)

जिस पुरुष में वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं। उसी में शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं।

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।  
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेभासमात्रता ।(31)

जहाँ इन वैराग्य और मुमुक्षुत्व की मन्दता है, वहाँ शमादिका भी मरुस्थल में जल-प्रतीति के समान आभासमात्र ही समझना चाहिये।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।  
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।(32)  
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।

मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान करना ही भक्ति कहलाती है। कोई-कोई 'स्वात्मतत्त्व का अनुसन्धान ही भक्ति है'- ऐसा कहते हैं।

### सा विद्या या विमुक्तये :-

जावन्तऽविजापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा ।  
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारमि अणन्तए ॥ (उत्त.पृ.100 गा.1)

अविद्यावान् पुरुष की तीन व्याख्याएँ - (1) जो कुत्सित ज्ञान युक्त हों, (जिन का चित्त मिथ्यात्म से ग्रस्त हो) वे अविद्यापुरुष हैं। (2) जिनमें तत्त्वानात्मिका विद्या न हो, वे अविद्य हैं। अविद्या का अर्थ यहाँ मिथ्यात्म से अभिभूत कुत्सित ज्ञान है। अतः अविद्याप्रधान पुरुष- अविद्यापुरुष हैं। (3) अथवा विद्या शब्द प्रचुर श्रुतज्ञान के अर्थ में है। जिनमें विद्या न हो, वे अविद्यापुरुष हैं। इस दृष्टि से अविद्या का अर्थ सर्वथा ज्ञानशून्यता नहीं, किन्तु प्रभृत श्रुतज्ञान (तत्त्वज्ञान) का अभाव है, क्योंकि कोई भी जीव सर्वथा ज्ञानशून्य तो होता ही नहीं, अन्यथा जीव और अजीव में कोई भी अन्तर न रहता।

### विद्यार्जन के प्रमाद से सर्वनाश

एक भाग्यहीन दरिद्र धनोपार्जन के लिए परदेश गया। वहाँ उसे कुछ भी द्रव्य प्राप्त न हुआ। वह वापिस स्वदेश लौट रहा था। रास्ते में एक गाँव के बाहर शून्य देवालय में रात्रिविश्राम के लिए ठहरा। संयोगवश वहाँ एक विद्यासिद्ध पुरुष मिला। उसके पास कामकुम्भ था, जिसके प्रताप से वह

मन चाही वस्तु प्राप्त कर लेता था। दरिंद्र ने उसकी सेवा की। उसने सेवा से प्रसन्न होकर कहा- ‘तुझे मंत्रित कामकुंभ दूँ या कामकुम्भ प्राप्त करने की विद्या दूँ?’ विद्यासाधना में कायर दरिंद्र ने कामकुंभ ही माँग लिया। कामकुंभ पाकर वह मनचाही वस्तु पाकर भोगासक्त हो गया। एक दिन मद्यपान से उन्मत्त होकर वह सिर पर कामकुंभ रखकर नाचने लगा। जरा सी असावधानी से कामकुंभ नीचे गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसका सब वैभव नष्ट हो गया, पुनः दरिंद्र हो गया। वह पश्चाताप करने लगा - ‘यदि मैंने विद्या सीख ली होती तो मैं दूसरा कामकुंभ बनाकर सुखी हो जाता।’ परन्तु अब क्या हो? जैसे विद्या रहित वह दरिंद्री दुःखी हुआ वैसे ही अध्यात्मविद्या रहित पुरुष अनन्त संसार में जन्म-जरा, मृत्यु, व्याधि-अधि आदि के कारण दुःखी होता है।

समिक्ख पंडिए तम्हा पासजाईपहे बहू।  
 अप्पणा सच्चमेसेजा मेत्ति भूएसु कप्पए॥(2)  
 माया पिया णहुसा भाया भजाना पुत्ता य ओरसा।  
 नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥(3)  
 एयमट्ठं सपेहाए पासे समियदंसणे।  
 छिन्द गेहिं सिणेहं च न कंखे पुव्वसंथवं॥(4)  
 गवासं मणिकुंडलं पसवो दासपोरूसं।  
 सब्बमेयं चइत्ताणं कामदवी भाविस्ससि॥(5)  
 थावरं जंगमं चेव धणं धणं उवक्खरं।  
 पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे॥(6)  
 अज्ज्ञात्थं सब्बओ सब्बं दिस्स पाणे पियायए।  
 न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥(7)

इसलिए साधक पण्डित(विद्यावान्) बहुत-से पाशों(बन्धनों) और जातिपथों(एकेन्द्रियादि में जन्म मरण के मोह जनित कारणों-स्रोतों) की समीक्षा करके स्वयं सत्य का अन्वेषण करें और विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव का संकल्प करें।

(फिर सत्यद्रष्टा पण्डित यह विचार करे कि) अपने कृत कर्मों से लुप्त(पीड़ित) होते समय माता-पिता, पुत्रवधु, भाई, पत्नी तथा औरस(आत्मज) पुत्र ये सब(स्वकर्म -समुद्भूत दुःखों से) मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

सम्यग्दर्शन-युक्त साधक अपनी प्रेक्षा(स्वतंत्र बुद्धि) से इस अर्थ(उपर्युक्त तथ्य) को देखे(तटस्थद्रुष्ट बनकर विचारें)(तथा अविद्याजनित) गृद्धि आसक्ति और स्नेह का छेदन करे।(किसी के साथ) पूर्व परिचय की आकांक्षा न रखता हुआ ममत्वभाव का त्याग कर दे।

गौ(गाय-बैल आदि), अश्व, और मणिकुण्डल, पशु, दास और(अन्य सहयोगी या आश्रित) पुरुष-समूह इन सब(पर अविद्याजनित ममत्व) का परित्याग करने पर ही(हे साधक) तू काम-रूपी(इच्छानुसार रूप-धारक) होगा।

अपने कर्मों से दुःख पाते(पचते) हुए जीव को स्थावर(अचल) और जंगम(चल) सम्पत्ति, धन, धान्य, उपस्कर(गृहोपकरण-साधन) आदि सब पदार्थ की(अविद्योपार्जित कर्मजनित) दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते।

सबको सब प्रकार के अध्यात्म-(सुख) इष्ट है, सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है; यह भय और वैर(द्वेष) उपतर(-निवृत्त) साधक किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करें।

इहमेगे उ मन्त्रन्ति अपच्चक्खाय पावगं।  
आयरियं विदित्ताणं सव्व दुक्खा विमुच्चर्दि॥(9)

इस संसार में(या अध्यात्मिक जगत् में) कुछ लोग यह मानते हैं कि पापों का प्रत्याख्यान(त्याग) किये बिना ही केवल आर्य(-तत्त्वज्ञान) अथवा आचार(स्व-स्वमत के बाह्य आचार) को जानने मात्र से मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है।

भणन्ता अकरेन्ता य बन्ध-मोक्ष पडिणिणो।  
वाचा- विरियमेतेण समासासेन्ति अप्ययं॥(10)

जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की स्थापना(प्रतिज्ञा) तो करते हैं,(तथा ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार से) कहते बहुत कुछ हैं, तदानुसार करते कुछ नहीं हैं, वे(ज्ञानवादी) केवल वाणी की वीरता से अपने आपको(झूठा) आश्वासन देते रहते हैं।

न चिन्ता तायए भासा कओ विजाणुसासणं?  
विसन्ना पाव-कम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो॥(11)

विभिन्न भाषाएँ(पापों या दुःखों से मनुष्य की) रक्षा नहीं करतीं ;(फिर व्याकरण-न्याय-मीमांसा आदि) विद्याओं का अनुशासन(शिक्षण) कहाँ सुरक्षा दे सकता है? ये इन्हें संरक्षक(त्राता) मानते हैं, वे अपने आपको पण्डित मानने वाले(पण्डितमानी) अज्ञानी(अतत्त्वज्ञ) जन पापकर्मरूपी कीचड़ में(विविध प्रकार से) फँसे हुए हैं।

जे केई सरीरे सत्ता वर्णे रूपे य सव्वसो।  
मणसा कायवक्षेणं सव्वे ते दुक्खसंभवा॥(12)

जो मन, वचन और काय से शरीर में तथा वर्ण और रस(आदि विषयों में सब प्रकार से आसन्त

हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

आवन्ना दीहमद्वाणं संसारम्मि अणंतए।  
तम्हा सव्वदिसं पस्स अप्यमतो परिव्वए॥(13)

वे(ज्ञानवादी शरीरासक्त पुरुष) इस अनन्त संसार में।(विभिन्न भव भ्रमण रूप) दीर्घ पथ को अपनाए हुए हैं। इसलिए(साधक) सब(भाव-) दिशाओं(जीवों के उत्पत्तिस्थानों) को देखकर अप्रमत्त होकर विचरण करे।

बहिया उइढमादाय नावकंखे कयाइ वि।  
पुव्वकम्म-खयट्टाए इमं देहं समुद्धरे॥(14)

(वह संसार से) ऊर्ध्व(मोक्ष का लक्ष्य) रखकर चलने वाला कदापि ब्राह्म(विषयों) की आकांक्षा न करे।(साधक पूर्वकृतकर्मों के क्षय के लिए ही इस देह को धारण करे)।

मूल(कारणों) सहित समस्त अत्यन्त(अनादि) कालिक दुःखों से मुक्ति का जो उपाय हैं, उसे मैं कह रहा हूँ। एकान्त हितरूप है, कल्याण के लिए है, उसे परिपूर्ण चित्त(की एकाग्रता) से सुनो।

दुःख मुक्ति तथा सुख प्राप्ति का उपाय :

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।  
रागस्स दोसस्य य संखण्णं एग्न्तसोक्खं समुवेङ्ग मोक्खं ॥(2)  
(उत्तराध्ययन)(बत्तीसवाँ अध्ययनः प्रमादस्थान पृ.572)

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से,(तथा) राग और द्वेष के सर्वथा क्षय से, जीव एकान्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्वसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा।  
सज्जाय-एग्न्तनिसेवणा य सुत्तज्यथसचिन्तणया धिर्द्य य॥(3)

गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी जनों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्त-सेवन, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना और धैर्य रखना यह उसका(ज्ञानादि प्राप्ति का) मार्ग(उपाय) है।

दुःख की परम्परागत उत्पत्ति:

जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बगालप्पभवं जहा यं।  
एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥(6)

जिस प्रकार बलाका(बगुली) अण्डे से उत्पन्न होती है, और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का आयतन(जन्मस्थान) तृष्णा है, तथैव तृष्णा का जन्म स्थान मोह है।

रागो य दासो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।

कम्मं च जाई- मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति ॥(7)

कर्म(बन्ध) के बीज राग और द्रेष हैं। कर्म उत्पन्न होता है - मोह से। वह कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही(वास्तव में) दुःख हैं।

दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

तण्हा हया जस्स न होई लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥(8)

(अतः) जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख को नष्ट कर दिया। उसने मोह को मिटा दिया है, जिसके तृष्णा नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया, जिसके लोभ नहीं हैं, उसने लोभ को समाप्त कर दिया, जिसके पास कुछ भी परिणाम नहीं है, अर्थात् जो अकिञ्चन है।

रागद्रेष-मोह के उन्मूलन का प्रथम उपायः अतिभोजन त्यागः-

रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्भृतुकामेण समूलजालं ।

जे जे उवाया पडिवजियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्वी ॥(9)

जो राग, द्रेष और मोह का समूल उन्मूलन करना चाहता है, उसे जिन-जिन उपायों को अपनाना चाहिए उन्हें मैं अनुक्रम से कहूँगा।

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।

दित्तं च कामा समभिद्वन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥(10)

रसों का प्रकाम(अत्यधिक) सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः साधक पुरुषों के लिए वृष्टिकर(-उन्माद को बढ़ाने वाले) होते हैं। उद्दीपकाम मनुष्य को काम(विषय-भोग) वैसे ही उत्पीड़ित करते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारूओ नावसयं उवेइ ।

एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥(11)

जैसे प्रचुर ईन्धन वाले वन में, प्रचण्ड वायु के साथ लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, इसी प्रकार अतिमात्रा में भोजन करने वाले साधक की इन्द्रियाग्नि(इन्द्रियों से उत्पन्न हुई राग रूपी अग्नि) शान्त नहीं होती। किसी भी ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कदापि हितकर नहीं होता।

कामभोग : दुःखों के हेतु:-

कामाणुगिद्विष्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।  
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सङ्गं गच्छइ वीतरागो ॥(19)

समग्र लोक के, यहाँ तक कि देवों के भी जो कुछ शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामासक्ति से ही पैदा होते हैं। वीतराग आत्मा ही उन दुःखों का अन्त कर पाते हैं।

जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुजमाणा ।  
ते खुइडए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे ॥(20)

जैसे किम्पागफल रस और रूपरंग की दृष्टि से(देखने और) खाने में मनोरम लगते हैं; किन्तु परिणाम(परिपाक) में वे सोपक्रम जीवन का अन्त कर देते हैं, कामगुण भी विपाक(अन्तिम परिणाम) में ऐसे ही(विनाशकारी) होते हैं।

### महाभारत में वर्णित ब्रह्म-विद्या

महाभारत के उद्योगपर्व में वर्णन पाया जाता है कि एक बार विदुर जी धृतराष्ट्र को धार्मिक -तत्त्वों का उपदेश दे रहे थे। प्रसंगवश मृत्यु, अमृत, सनातन सत्य, ब्रह्म आदि गूढ़ विषयों की चर्चा उपस्थित हुई। तब विदुर जी ने इन विषयों के विशेषज्ञ सनन्त्सुजात ऋषि को स्मरण किया। स्मरण करने पर सनन्त्सुजात ऋषि वहाँ उपस्थित हुये। दोनों ने बहुत आदर-सत्कारपूर्वक ऋषि का स्वागत किया एवं प्रणाम किया।

विदुर ने शास्त्रोक्त विधि से पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया। इसके बाद जब वे सुखार्णक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुर ने उनसे कहा- भगवान् । धृतराष्ट्र के हृदय में कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है। आप ही इस विषय का निरूपण करने योग्य हैं।

यं श्रुतायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।  
लाभालाभौ प्रियद्रेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥(11)

विषहरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।  
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदमौ ॥(12)

(महाभारत 3, पृ. 2172)

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखों से पार हो जाय और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-आमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति -ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें।

धृतराष्ट्र बोले - सनत्सुजात जी। मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरों ने मृत्यु से बचने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया था। इन दोनों में कौन -सी बात यथार्थ है? सनत्सुजातने ने कहा- राजन्।(इस विषय में दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह(ब्रह्मचर्य पालन रूप) कर्म से दूर होती है- यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'- यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथन में संदेह न करना।

उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि, मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।  
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि, तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥(4)  
(महाभारत 3, पृ. 2173)

क्षत्रिय! इस प्रश्न के उक्त दोनों ही पहलुओं को सत्य समझो। कुछ विद्वानों ने मोहवश इस मृत्यु की सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है। स्वतः उत्तम कर्तव्य पालन करने में आलस्य या अनादर भाव अथवा दृष्टिभावना को प्रमाद कहते हैं।

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।  
नैव मृत्युव्याघ्र इवात्ति जन्तून्, न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हिं ॥(5)

प्रमाद के ही कारण असुरगण(आसुरी सम्पत्ति वाले) मृत्यु से पराजित हुए और अप्रमाद से ही देवगण(दैवी सम्पत्ति वाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्र के समान प्राणियों का भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखने में नहीं आता।

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु- रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम्।  
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः, शिवः शिवानामाशिवोऽशिवानाम् ॥(6)

कुछ लोग इस प्रमाद से भिन्न(यम) को मृत्यु कहते हैं और हृदय से दृढ़ता पूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्य को ही अमृत मानते हैं। यमदेव पितृलोक में राज्य-शासन करते हैं। वे पुण्यात्माओं के लिये मंगलमय और पापियों के लिये अमंगलमय हैं।

अस्यादेशाभिः सरते नाराणां, क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः !  
अहंगतेनैव चरन् विभागान्, न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥(7)

इन यम की आज्ञा से ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्यों के विनाश में प्रवृत्त होती है। अहंकार के वशीभूत होकर विपरीत मार्ग पर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्मा का साक्षात्कार

नहीं कर पाता ।

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना, इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।  
ततस्तान् देवा अनुविल्पवन्ते, अतो मृत्युर्मरणख्यामुपैति ॥(8)

मनुष्य(क्रोध, प्रमाद और लोभ से) मोहित होकर अहंकार के अधीन हो इस लोक से जाकर पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ते हैं। मरने के बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं। शरीर से प्राणरूपी इन्द्रियों का वियोग होने के कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञा को प्राप्त होती है।

कर्मोदये कर्मफलानुरागा- स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।  
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्, प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥(9)

प्रारब्ध कर्म का उदय होने पर कर्म के फल में आसक्ति रखने वाले लोग(देह त्याग के पश्चात) परलोक का अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्यु को पार नहीं कर पाते। देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कार के उपाय को न जानने से विषयों के उपभोग के कारण सब ओर(नाना प्रकार की योनियों में) भटकता रहता है।

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां, मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।  
मिथ्यार्थयोगामिहतान्तरात्मा, स्मरन्त्रुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥(20)

इस प्रकार विषयों का जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियों को महान् मोह में डालने वाला है और इन झूठे विषयों में राग रखने वाले मनुष्य की उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है। मिथ्या भोगों में आसक्ति होने से जिसके अन्तःकरण की ज्ञान-शक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयों का ही चिन्तन करता हुआ मन ही मन आस्वादन करता है।

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्, कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।  
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति, धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥(11)

पहले तो विषयों का चिन्तन ही लोगों को मार डालता है। इसके बाद वह काम और क्रोध को साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है। इस प्रकार ये विषय चिन्तन(काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्यों को मृत्यु के निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्य से मृत्यु के पार हो जाते हैं।

सोऽभिध्यायन्त्रुत्पतितान् निहन्या, दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।  
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवाति भूत्वा, एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥(12)

(अतः जो मृत्यु को जीतने की इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्मा का ध्यान करके

विषयों को जो तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओं को उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले। इस प्रकार जो विद्वान् विषयों की इच्छा को मिटा देता है, उसको(साधारण प्राणियों की) मृत्यु की भाँति मृत्यु नहीं मारती(अर्थात् वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है)।

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।  
कामन् व्युदस्य धनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥(13)

कामनाओं के पीछे चलने वाला मनुष्य कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है, परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओं का त्याग कर देने पर जो कुछ भी जन्म-मरण रूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है।

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रहश्यते ।  
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥(14)

काम ही समस्त प्राणियों के लिये मोहक होने के कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरक के समान दुःखदायी देखा जाता है। जैसे मद्यापन से मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गङ्गे की ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगों में सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं।

अमृद्वृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्, किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।

अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य, न्राधीयीत निर्णदन्त्रिवास्य चायुः ॥(15)

जिसके चित्त की वृत्तियाँ विषय होड़ों से मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुष का इस लोक में तिनकों के बनाये हुए व्याघ्र के समान मृत्यु क्या बिगाढ़ सकती है? इसलिये राजन्। विषयभोगों के मूल कारणरूप अज्ञान को नष्ट करने की इच्छा से दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थ को कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये।

सक्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा, स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा, ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।

विनश्यते विषये तस्य मृत्यु, मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥(16)

यह जो तुम्हारे शरीर के भीतर अन्तरात्मा है, मोह के वशीभूत होकर यही, क्रोध, लोभ(प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोह से होने वाली मृत्यु को जानकर जो ज्ञानिष्ठ हो जाता है, वह इस लोक में मृत्यु से कभी नहीं डरता उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्यु के अधिकार में आया हुआ मरणधर्मा मनुष्य।

धूतराष्ट्र बोले - द्विजातियों के लिये यज्ञों द्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकों की

प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हीं को परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बात को जानने वाला विद्वान् उत्तम कर्मों का आश्रय क्यों न लें।

एवं हृविद्वानुपयाति तत्र, तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।  
अनीह आयाति परं परात्मा, प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥(18)

सनत्सुजात ने कहा- राजन्। अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकों में गमन करता है तथा वेद कर्म के बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं; परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्ग के द्वारा अन्य सभी मार्गों का बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्मा को प्राप्त होता है। धृतराष्ट्र बोले - इस जगत् में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्म का आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पाप के द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पाप को नष्ट कर देता है ?

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥(23)

सनत्सुजात. ने कहा- राजन्। धर्म और पाप दोनों के पृथक् -पृथक् फल होते हैं और उन दोनों का ही उपभोग करना पड़ता है।

तस्मिन् स्थितो वाष्युभयं हि नित्यं, ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।

तथान्यथा पुण्यमुपैति देही, तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥(24)

किंतु परमात्मा में स्थित होने पर विद्वान् पुरुष उस(परमात्मा के) ज्ञान के द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनों का नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफल को प्राप्त करता है कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपर्जित पाप के फल का अनुभव करता है।

गत्वोभयं कर्मणा युज्येतेऽस्थिरं, शुभस्य पापस्य स चामि कर्मणा ।

धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्, धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥(25)

इस प्रकार पुण्य और पाप के जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह(इस जगत् में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मों में लग जाता है; किन्तु कर्मों के तत्त्व को जानने वाला पुरुष निष्कामधर्मस्वरूप कर्म के द्वारा अपने पूर्व पाप का यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिये निष्कामभाव से धर्माचरण करने वालों को समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है।

यथा स्वं वान्तमश्राति इवा वै नित्यमभूतये ।

एवं ते वान्तमश्रन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥(33)

जैस कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो, अपने(ब्राह्मणत्व के)

प्रभाव का प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमन का भोजन करने वाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है।

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।  
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुब्रह्मिणं बुधाः॥(34)

जो कुटुम्बीजनों के बीच में रहकर भी अपनी साधना को उनसे सदा गुप्त रखने का प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणों को ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं।

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरूपद्रवः।  
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणां ब्रह्मवित् कविः॥(38)

पृ. 2177

जो कर्तव्य- पालन में कभी थकना नहीं, दान नहीं लेता, सत्युरुषों में सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टाका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है।

अनाद्या मानुषे वित्ते आद्या दैवे तथा क्रतौ।  
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥(39)

जो लौकिक धन की दृष्टि से निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ उपासना आदि से सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषय से चलायमान नहीं होते। उन्हें ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये।

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।  
न समानो ब्रह्मणस्य तस्मिन् प्रयत्ने स्वयम्॥(40)

यदि कोई इस लोक में अभीष्ट सिद्ध करने वाले सम्पूर्ण देवताओं को जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ता के समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फल की सिद्धि के लिये ही प्रयत्न कर रहा है।

यमप्रयत्नमानं तु मानयन्ति स मानितः।  
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमाभिसंज्वरेत्॥(41)

जो दूसरों से सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुष को देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करने पर भी विद्वान् लोग जिसे आदर दें, वही वास्तव में सम्मानित है।

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।  
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः॥(42)

जगत् में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्ति को ऐसा मानना चाहिये कि आँखों

को खोलने-मीचने के समान अच्छे लोगों की यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं।

अधर्मनिपुण मूढ़ लोके मायाविशारदाः ।  
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥(43)

किंतु इस संसार में जो अधर्म में निपुण, छल-कपट में चतुर और माननीय पुरुषों का अपमान करने वाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियों का भी आदर नहीं करते।

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।  
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥(44)

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मान से इस लोक में सुख मिलता है और मौन से परलोक में। ज्ञानीजन इस बात को जानते हैं।

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी ।  
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥(45)

राजन् । लोक में ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुख का घर मानी गयी है, पर वह भी(कल्याण मार्ग में) लुटेरों की भाँति विघ्न डालने वाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्य के लिये सर्वथा दुर्लभ है।

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो, बहुप्रकाराणि दुराधराणि ।  
सत्यार्जवे हीर्दमशौचविद्या, यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥(46)

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी की प्राप्ति के अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोह को जगाने वाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनता से धारण किया जाता है। उनके नाम हैं- सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या।

यतो न वेदा मनसा सहैन, मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।  
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं, स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥(2) (महाभारत III, पृ. 2178)

सनत्सुजात ने कहा- राजन्। जहाँ मन के सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्मा का ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दों का जहाँ से प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करने से प्रकाश में आते हैं।

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वानथान्यथा वर्गफलानुकांक्षी ।  
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वममुत्र भुंक्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥(9)

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञान से परमात्मा को प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग फल की इच्छा रखते हैं, वे इस लोक में किये हुये सभी कर्मों को साथ ले जाकर उन्हें परलोक में भोगते हैं तथा भोग समाप्त होने पर पुनः संसार मार्ग में लौट आते हैं।

**क्रोधः** कामो लोभमोहौ विधित्सा, कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।

**ईर्ष्या** जुगुप्सा च मनुष्यदोषा, वर्ज्याः सदा द्वादशैते नरणाम् ॥(16)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा- मनुष्यों में रहने वाले ये बारह दोष मनुष्यों के लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं।

**एकैकः** पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्जभ ।

**लिप्समानोऽन्तरं** तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥(17)

नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याघ्र मृगों को मारने का छिद्र(अवसर) देखता हुआ उनकी टोह में लगा रहता है, उसी प्रकार इनमें से एक-एक दोष मनुष्यों का छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है।

**विकर्त्थनः** स्पृहयालुर्मनस्वी, ब्रिभत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।

**एतान् पापाः** षण्ठा पापधर्मान्, प्रकुर्वते नो प्रसन्नतः सुटुर्णे ॥(18)

अपनी बहुत बड़ाई करने वाले, लोलुप तनिक -से भी अपमान को सहन न करने वाले, निन्तर क्रोधी, चंचल और आश्रितों की रक्षा नहीं करने वाले - ये छः प्रकार के मनुष्य पापी हैं। महान् संकट में पड़ने पर भी ये निडर होकर इन पाप कर्मों का आचरण करते हैं।

**सम्भोगसंविद्** विषमोऽतिमानी, दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।

**वर्गप्रशंसी** वनितासु द्वेष्टा, एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥(19)

सम्भोग में ही मन लगाने वाले, विषमता रखने वाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करने वाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और काम की प्रशंसा करने वाले तथा स्त्रियों के द्वेषी- ये सात और पहले छः कुल तेरह प्रकार के मनुष्य नृशंसवर्ग(क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं।

### ब्रह्मज्ञान के लिये 12 व्रत

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च, आमात्सर्ये हीस्तितिक्षानसूया ।

यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च, व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥(20)

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र ज्ञान - ये ब्राह्मण के

बारह व्रत हैं।

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः, सर्वामयीमा पृथिवीं स शिष्यात्।  
त्रिभिद्विभ्यामेकतो वार्थितो य, एतस्य स्वमस्तीति स वेदिंतव्यः ॥(21)

जो इन बारह व्रतों(गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने अधीन कर सकता है। इनमें से तीन, दो या एक गुण से भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकार का धन है, ऐसा समझना चाहिये।

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।  
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥(22)

दम, त्याग और अप्रमाद- इन तीन गुणों में अमृत का वास है। जो मनीषी(बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणों का मुख सत्यस्वरूप परमात्मा की ओर है(अर्थात् ये परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं)।

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते।  
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थीं च तथा स्पृहा ॥(23)  
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च।  
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥(24)  
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽत्मनि।  
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्विरुच्यते ॥(25)

दम अठारह गुणोंवाला है।(निमाकित अठारह दोषों के त्याग को ही अठारह गुण समझना चाहिये) - कर्तव्य- अकर्तव्य के विषय में विपरीत धारणा, असत्य-भाषण, गुणों में दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सदा धनोपार्जन में ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करने की आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्र में अरति, कर्तव्य की विस्मृति, अधिक बकवाद और अपने को बड़ा समझना इन दोषों से जो मुक्त है, उसी को सत्यरूप दान्त(जितेन्द्रिय) कहते हैं।

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड् विविधः।  
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहताः ॥(26)  
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।  
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥(27)

मद में अठारह दोष हैं; ऊपर जो दम के विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मद के दोष

बताये गये हैं। त्याग छः प्रकार का होता है, वह छहों प्रकार का त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविधि दुःखों को निश्चय ही पार कर जाता है। काम का त्याग कर देने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

### ब्रह्मज्ञान के लिये 6 प्रकार के त्याग

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्टति।  
 इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्त्रित्यवैराग्ययोगतः ॥(28)  
 कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।  
 अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ॥(29)

राजेन्द्र! छः प्रकार का जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं। लक्ष्मी को पाकर हर्षित न होना- यह प्रथम त्याग है; यज्ञ- होमादि में तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनाने में धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्य से युक्त रहकर काम का त्याग करना- यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्ष का उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है।

त्यक्तैर्प्रवैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः।  
 न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥(30)

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थों के त्याग से जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करने से नहीं आती। अधिक धन सम्पत्ति के संग्रह से निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्ति के लिये उसका उपभोग करने से भी काम का त्याग नहीं होता।

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लयेत्।  
 सर्वैव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥(31)

जो पुरुष सब गुणों से युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे।

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति।  
 इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत् कदाचन ॥(32)

कोई अप्रिय घटना हो जाये तो कभी व्यथा को न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है)। अपने अभीष्ट पदार्थ- स्त्री पुत्रादि की कभी याचना न करें (यह पाँचवा त्याग है)।

अप्रमाद के 8 गुण

अहंते याचमानाय प्रदेवं तच्छुभं भवेत्।  
 अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत्॥(33)  
 सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।  
 अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च॥(34)

सुयोग्य याचक के आ जाने पर उसे दान करे(यह छठा त्याग है)। इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय गुणों से मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमाद के भी आठ गुण माने गये हैं- सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।  
 तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः॥(35)

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनों के ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मद के अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमाद के आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये।

प्रमाद के आठ दोष

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।  
 इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भास्त।  
 अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत्॥(36)

भारत ! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन-इनकी अपने-अपने विषयों में जो भोगबुद्धि से प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकाल की चिन्ता तथा भविष्य की आशा - दो दोष ये हैं। इन आठ दोषों से मुक्त पुरुष सुखी होता है।

सत्य ही सार्वभौम एवं अमृत  
 सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।  
 तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम्॥(37)

राजेन्द्र ! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं; सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है।

निवृत्तेनैव दोषेण तपोब्रतमिहाचरेत्।  
 एतद धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां ब्रतम्॥(38)

दोषैरतैर्वियुक्तस्तु                    गुणैरतैः                    समन्वितः ।  
 एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥(39)  
 यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रतीमि ते।  
 एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥(40)

दोषों को निवृत्त करके ही यहाँ तप और ब्रत का आचरण करना चाहिये, यह विधाता का बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषों का ब्रत है। मनुष्य को उपर्युक्त दोषों से रहित और गुणों से युक्त होना चाहिये। ऐसे पुरुष का ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन् ! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेप में बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के कष्ट को दूर करने वाला, पापहारी तथा परम पवित्र है।

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ।  
 संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठिति ॥(46)

किसी का यज्ञ मन से, किसी का वाणी से तथा किसी का क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्प के अनुसार ही लोकों को प्राप्त होता है।

### ब्रह्म प्राप्ति के लिये शिक्षा के साथ दीक्षा

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितब्रतमाचरेत् ।  
 नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥(47)

किंतु जब तक संकल्प सिद्ध न हो, तब तक दीक्षित ब्रत का आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह दीक्षित नाम ‘दीक्षा ब्रतादेश’ इस धातु से बना है। सत्यपुरुषों के सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है।

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः ।  
 विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥(48)

क्योंकि परमात्मा के ज्ञान का फल प्रत्यक्ष है और तप का फल परोक्ष है(इसलिये ज्ञान का ही आश्रय लेना चाहिये)। बहुत पढ़ने वाले ब्राह्मण को केवल बहुपाठी(बहुज्ञ) समझना चाहिये।

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम् ।  
 य एवं सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥(49)

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनाने से ही किसी को ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मा से कभी पृथक् नहीं होता, उसी को तुम ब्राह्मण समझो।

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।  
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यग् नादिशं तु कथंचन॥(57)

इस आत्मा की खोज करने के लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है; फिर आग्रेय आदि कोणों की तो बात ही क्या है? इसी प्रकार दिग्बिभाग से रहित प्रदेश में भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये।

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यार्थेषु कथंचन।  
अविचिन्नविनिमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम्॥(58)

आत्मा का अनुसंधान अनात्म पदार्थों में तो किसी तरह करे ही नहीं, वेद के वाक्यों में भी न ढूँढ़कर केवल तप द्वारा उस प्रभु का साक्षात्कार करें।

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च।  
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम्॥(59)

रागादि इन्द्रियों की सब प्रकार की चेष्टा से रहित होकर परमात्मा की उपासना करें, मन से भी कोई चेष्टा न करें। राजन्। तुम भी अपने हृदयाकाश में स्थित उस विख्यात परमेश्वर की बुद्धिपूर्वक उपासना करो।

मोनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।  
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते॥(60)

मौन रहने अथवा जंगल में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है।

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।  
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा॥(61)

सम्पूर्ण अर्थों को व्याकृत(प्रकट) करने के कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थों का प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्म से ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थों को व्याकृत(व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है।

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।  
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठन्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत्॥(62)

जो(योगी) सम्पूर्ण लोकों को प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकों का द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्म में ही स्थित है, वही ब्रह्मकेता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है।

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।  
वेदानां चानुपूर्वेण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते॥(63)

राजन् ! पूर्वोक्त धर्म आदि में स्थित होने से तथा वेदों का क्रम से(विधिवत्) अध्ययन करने से भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धि द्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा- सनत्सुजात जी ! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्म सम्बन्धिनी विद्या का उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषों के लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार ! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषय का पुनः प्रतिपादन करें।

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं, यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।  
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या, विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या॥(2) पृ. 2183

सनत्सुजात ने कहा- राजन् ! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त चंचल(हर्षित) हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करने से ब्रह्म की उपलब्धि नहीं होती। बुद्धि में मन के लय हो जाने पर सब वृत्तियों का विरोध करने वाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उपलब्ध होती है। धृतराष्ट्र ने कहा- जो कर्मों द्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्य के समय में भी जो इस आत्मा में ही रहती है, उस अनंत ब्रह्म से संबंध रखने वाली इस सनातन विद्या को यदि आप ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो मुझ जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व(मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ?

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं, बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।  
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति, या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या॥(4)

सनत्सुजात जी बोले- अब मैं(सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्म से संबंध रखने वाली उस पुरातन विद्या का वर्णन करूँगा, जो मनुष्यों को बुद्धि और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीर को सदा के लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनों में नित्य विद्यमान रहती है।

धृतराष्ट्र ने कहा- ब्रह्मन् ! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्य के द्वारा ही सुगमता से जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्य का पालन कैसे होता है ?

आचार्य योनिमिह ये प्रविश्य, भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति।  
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति, प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥(6)

सनत्सुजात जी बोले- जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अंतरंग भक्त हो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देहत्याग के पश्चात् परम योगरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

अस्मिंष्ठोके वै जयन्तीह कामान्, ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः ।  
त आत्मनं निर्हरन्तीह देहान्मुजादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥(7)

इस जगत् में जो लोग वर्तमान स्थिति में रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओं को जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने के लिये ही नाना प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करते हैं, वे सत्त्वगुण में स्थित हो यहाँ ही मूँज से सींक की भाँति इस देह से आत्मा को(विवेक द्वारा) पृथक् कर लेते हैं।

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।  
आचार्यशास्ताया या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥(8)

भारत ! यद्यपि माता और पिता- ये ही दोनों इस शरीर को जन्म देते हैं, तथापि आचार्य के उपदेश से जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है।

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णनृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।  
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्वृह्येत कृतमस्य जानन् ॥(9)

जो परमार्थतत्व के उपदेश से सत्य को प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णों की रक्षा करते हैं, उन आचार्य को पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकार का स्मरण करके कभी उनसे द्वोह नहीं करना चाहिये।

गुरुशिष्योनित्यमभिवादयीतस्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।  
मानं न कुर्यान्नादधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥(10)

ब्रह्मचारी शिष्य को चाहिये कि वह नित्य गुरु को प्रणाम करे, बाहर-भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगावे, अभिमान न करे, मन में क्रोध को स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्य का पहला चरण है।

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामानोति यः शुचिः ।  
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥(11)

जो शिष्य की वृत्ति के क्रम से ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रत का पहला ही पाद कहलाता है।

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।  
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥(12)

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करें, यह दूसरा पाद कहलाता है।

समा गुरौ यथा वृतिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।  
तत्पुत्रे च तथा कूर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥(13)

गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बताव हो, वैसा ही गुरु की पत्नि और पुत्र के साथ भी होना चाहिये। यह भी ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद ही कहलाता है।

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चांर्थभावितोऽस्मीत्यनेन।  
यन्मन्यते तं प्रति हृषबुद्धिः स वै तृतीयौ ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥(14)

आचार्य ने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यान में रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया- यह ब्रह्मचर्य का तीसरा पाद है।

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं, प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।  
इतीव मन्येत न भाषयेत स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥(15)

आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें संतुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से अन्यत्र न जाय।(दक्षिणा देकर या गुरु की सेवा करके) कभी मन में ऐसा विचार न लावें कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हूँ तथा मुँह से कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा पाद है।

कालेन पादं लभते तथार्थं ततश्च पादं गुरुयोगतश्च।  
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेच्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥(16)

सनातनी विद्या के कुछ अंश को तथा उसके मर्म को तो मनुष्य समय योग्य से प्राप्त करता है, कुछ अंश को गुरु के संबंध से तथा कुछ अंश को अपने उत्साह के संबंध से और कुछ अंश को परस्पर शास्त्र के विचार से प्राप्त करता है।

धर्माद्यो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चङ्गानि तथा बलं च।  
आचार्य योगे फलतीति चाहुब्रह्मर्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥(17)

पूर्वोक्त धर्मादि गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्म के अन्न एवं सामर्थ्य हैं, वे भी

जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्य के संबंध से प्राप्त वेदार्थ के ज्ञान से सफल होता है, ऐसा कहा जाता है।

एवं प्रवृत्तो यदुपालभते वै धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत् ।

सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥(18)

इस तरह ब्रह्मचर्यपालन में प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारी को चाहिये कि जो कुछ भी धन(जीवन निर्वाह) योग्य वस्तुएँ भिक्षा में प्राप्त हो, उसे आचार्य को अर्पण कर दें। ऐसा करने से वह शिष्य सत्यरूपों के अनेक गुणों से युक्त आचार को प्राप्त होता है। गुरुपुत्र के प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये।

एवं वसन् सर्वतो वर्धतरीह बहून् पुत्राँलभते च प्रतिष्ठाम् ।

वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिराश्च वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्य ॥(19)

ऐसी वृत्ति से गुरु गृह में रहने वाले शिष्य की इस संसार में सब प्रकार से उत्तरति होती है। (वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके) बहुत से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये मुख की वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्य पालन के लिये निवास करते हैं।

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमानुवन् ।

ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥(20)

इस ब्रह्मचर्य के पालन से ही देवताओं ने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी क्रषियों ने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया।

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत् ।

एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यहाय जायते ॥(21)

इसी के प्रभाव से गन्धर्वों और अप्सराओं को दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से सूर्योदय समस्त लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं।

अकांक्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थेनामिव ।

एवं ह्येते समाज्ञाय तादृभावं गता इमे ॥(22)

रसभेदरूप चिन्तामणि से याचना करने वालों को जैसे उसके अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की मनोवांछित वस्तु प्रदान करने वाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्य के पालन से वैसे भाव को प्राप्त हुए।

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन् सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।  
एतेन वै बाल्यमध्येति विद्वान् मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥(27)

राजन् ! जो इस ब्रह्मचर्य का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यमनियमादि योग का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालक की भाँति राग द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय में वह मृत्यु को भी जीत लेता है।

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।  
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति संर्वं नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥(28)

राजन् ! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मों के द्वारा नाशवान् लोकों को ही न करते हैं, किंतु जो ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् है, वही उस ज्ञान के द्वारा सर्वरूप परमात्मा को न होता है। मोक्ष के लिये ज्ञान के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। धृतराष्ट्र बोले- विद्वान् पुरुष यहाँ यस्वरूप परमात्मा के जिस अमृत एवं अविनाशी परम पद का साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा ? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंग का प्रतीत होता है ? सनत्सुजात ने कहा- यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहे के सदृश प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्म का वास्तविक रूप न पृथ्वी में है, न आकाश में। समुद्र का जल भी उस रूप को नहीं धारण करता। इस ब्रह्म का वह रूप न तारों में है, न विजली के आश्रित है और न बादलों में ही दिखाई देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्य में भी वह नहीं देखा जाता।

नैवकृष्टं तत्र यजुष्टु नाप्यभर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।  
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन् महाब्रते नैव दृश्येद् धृतं तत् ॥(28)

राजन् !ऋग्वेद की ऋचाओं में, यजुर्वेद के मन्त्रों में, अथर्ववेद के सूक्तों में तथा विशुद्ध सामवेद में भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साम में तथा महान् ब्रत में भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है।

अपारणीयं तमसः परस्तात् तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले ।  
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ॥(29)

ब्रह्म के उस स्वरूप का कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकार से सर्वथा अतीत है। महाप्रलय में सबका अन्त करने वाला काल भी उसी में लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरे की धार के समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतों से भी महान् है(अर्थात् वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महान् है)।

ब्रह्मविद्या के लिये बाधक एवं साधक गुण

12 महान् दोष-

शोकः क्रोधश्च कामो मानः परासुता ।

ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्तुता ॥(1)

(महाभारत III, पृ. 2186)

द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः ।

सनत्सुजात जी कहते हैं- राजन्! शोक, क्रोध, लोभ, काम, मन, अत्यंत निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता गुणों में दोष देखना और निन्दा करना -ये बारह महान् दोष मनुष्यों के प्राणनाशक हैं।

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते ।

यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्थिति ॥(2)

राजेन्द्र! क्रमशः एक के पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्यों को प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वश में होकर मूढबुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है।

स्पृहयालुरूग्रः परूषो वा वदान्यः क्रोधं विभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।

नृशंसधर्माः षडिमे जना वै प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥(3)

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करने वाले और अधिक आत्म प्रशंसा करने वाले- ये छः प्रकार के मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करने वाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं करते।

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी दत्त्वां विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।

बहुप्रशंसी वन्दितद्विद् सदैव समैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥(4)

सम्भोग में मन लगाने वाले, विषमता रखने वाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मशताघा करने वाले, कृपण, असमर्थ होकर भी बहुत बड़ाई करने वाले और सम्मान्य पुरुषों से सदा द्वेष रखने वाले - ये सात प्रकार के मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं।

12 महान् व्रत-

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं हीस्तितिक्षानसूया ।

दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥(5)

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रिय संयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा - ये ब्राह्मण के बारह महान् व्रत हैं।

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद द्वादशेभ्यः सर्वामीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।  
त्रिभिर्द्वादश्यमेकतो वान्वितो यो नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥(6)

जो इन बारह ब्रतों से कभी छुत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन कर सकता है। इनमें से तीन, दो या एक गुण से भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता- ऐसा समझना चाहिये। (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तु में ममता नहीं होती)।

अमृत की स्थिति-

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।  
एतानि ब्रह्मसुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥(7)

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद- इनमें अमृत की स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणों के ये ही मुख्य साधन हैं।

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।  
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥(8)

सच्ची हो या झूठी, दूसरों की निन्दा करना ब्राह्मण को शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरों की निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरक में पड़ते हैं।

मद के 18 दोष-

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तिः ।  
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥(9)

मद के अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्ट रूप से नहीं बताये गये थे- लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करना, गुणियों पर दोषारोपण, असत्यभाषण,

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।  
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥(10)

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरों के दोष बताना, चुगली करना, धन का (दुरुपयोग से) नाश, कलह, दाह, प्राणियों को कष्ट पहुँचाना,

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ।  
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत् सदा होतद् विगर्हितम् ॥(11)

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशुन्यता, तथा गुणों में दोष देखने का स्वभाव। इसलिये विद्वान् पुरुष को मद के वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषों ने इस मद को सदा ही निन्दित बताया है।

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः।

पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ॥(14)

पृ. 2188

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयों को हटा देता है।

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम्।

सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ॥(15)

जो(वैराग्य की कमी के कारण) सत्त्व से भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्यों के दिव्य लोकों की प्राप्ति में संकल्प से संचित किया हुआ यह इन्द्रिय निग्रह रूप तप समृद्ध होने पर भी केवल उर्ध्व लोकों की प्राप्ति का कारण होता है(मुक्ति का नहीं)

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात्।

मनसान्त्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥(16)

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्म का बोध न होने से इन सकाम यज्ञों की वृद्धि होती है। किसी का यज्ञ मन से, किसी का वाणी से और किसी का क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है।

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति।

ब्राह्मणाथ विशेषेण किंचान्यदपि मे शृणु ॥(17)

संकल्प सिद्ध अर्थात् सकाम पुरुष से संकल्प रहित यानी निष्काम पुरुष की स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ता की स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो।

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं वाचो विकाराः कवयो वदन्ति।

अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥(18)

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यश रूप परमात्मा की प्राप्ति करने वाला है। इसे शिष्यों को अवश्य पढ़ाना चाहिए। परमात्मा से भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणी का विकार मात्र है- ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योग शास्त्र में यह परमात्मा विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं।

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन् सत्यं जयेजुहुयादवा यजेदवा।

नैतेन बालोऽमृत्युमध्येति राजन् रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ॥(19)

राजन्!(निष्काम भाव के बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्म के द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्म को नहीं जीता ज सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है उसमें भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व- मुक्ति को

नहीं पा सकता। तथा अन्त काल में उसे शान्ति भी नहीं मिलती।

तृष्णीमेक उपासीत चेष्टेः मनसापि न।  
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥(20)

इसलिये सब प्रकार की चेष्टा से रहित होकर एकान्त में उपासना करे, मन से भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुति में राग और निन्दा में द्वेष न करे।

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविश्वति पश्यति।  
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद विद्धन् ब्रवीमि ते ॥(21)

राजन्! उपर्युक्त साधन करने से मनुष्य यहाँ ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्धन्! वेदों में क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ।

न साहृष्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।  
मनीषयाथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।  
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥(6)

उस परमात्मा का स्वरूप किसी दूसरे की तुलना में नहीं आ सकता; उसे कोई चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धि से, मन से और हृदय से उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान् का योगीजन साक्षात्कार करते हैं।

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पत्तेऽ।  
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः।  
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥(19)

कोई मन के समान वेग वाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्त में उसे हृदयस्थित परमात्मा में ही आना पड़ेगा। उस सनातन परमात्मा का योगीजन साक्षात्कार करते हैं।

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुविशुद्ध सत्त्वाः।  
हितो मनीषी न तप्यते ये प्रब्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति।  
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥(20)

इस परमात्मा का स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं। जो सबके हितेशी और मन को वश में करने वाले हैं तथा जिनके मन में कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसार के सब सम्बन्धों का सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उस सनातन परमात्मा का योगी लोग साक्षात्कार करते हैं।

गृहन्ति सर्पा इव गद्वारणि स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।  
 तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय ।  
 योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥(21)

जैसे साँप बिलों का आश्रय ले अपने को छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहार की आड़ में अपने दोषों को छिपाये रखते हैं। जैसे ठग रास्ता चलने वालों को भय में डालने के लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उन पर विश्वास करके अत्यन्त मोह में पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्मा के मार्ग में चलने वाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भय में डालने के लिए मोहित करने की चेष्टा करते हैं किंतु योगीजन भगवत्कृपा से अनेक फंदे में न आकर उस सनातन परमात्मा का ही साक्षात्कार करते हैं।

यथोदपाने महति सर्वतः सम्पुत्रोदके ।  
 एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥(26) पृ. 2192

जैसे सब ओर जल से परिपूर्ण बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर जल के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानी के लिये सम्पूर्ण वेदों में कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता।

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।  
 अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥(30)

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म(उद्गम) है। मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर( नित्यनूतन) महिमा में स्थित हूँ। मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहने वाला हूँ। मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है।

### दुर्लभबोधि और सुलभबोधि के पांच कारण

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुलभबोहियत्ताए कम्मं पकरेति, तं जहा- अरहंताणं अवन्नं वयमाणे, अरहंतपन्नत्तस्म धम्मस्स अवन्नं वयमाणे, आयरियउवज्ञायाणं अवन्नं वयमाणे, चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वयमाणे विवक्ततवबंभच्चेराणं देवाणं अवन्नं वयमाणे । पंचहि ठाणेहि जीवा सुलभबोहित्ताए कम्मं पगेरंति, तं जहा- अरहंताणं वन्नं वयमाणे जाव विवक्ततवबंभच्चेराणं देवाणं वन्नं वयमाणे ।(41) (श्री स्थानाङ्ग सूत्र 5 पृ. 138)

पांच कारणों से जीवात्मा दुर्लभबोधि अर्थात् जिन-धर्म की कठिनता से प्राप्ति के लिये कर्म करते हैं, जैसे- अरिहन्तों की निन्दा करने से, अरिहन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य

ओं और उपाध्यायों की निन्दा करने से, चतुर्विंध संघ की निन्दा करने से, परिपक तप एवं ब्रह्मचर्य-फल प्राप्त देवों की निन्दा करने से।

पांच कारणों से जीवात्मा सुलभबोधि अर्थात् जिन धर्म की सुविधा से प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं, जैसे अरिहन्तों की स्तुति करने से, यावत् परिपक तप एवं ब्रह्मचर्य फलप्राप्त देवों की स्तुति करने से।

### सुलभबोधिता

जिन जीवों को जिन धर्म की प्राप्ति इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में सुलभ है, उन्हें सुलभबोधि कहा जाता है। सुलभ बोधिता के भी पाँच कारण हैं- जैसे अरिहन्त भगवान् की स्तुति करने से, उनके चरणों में श्रद्धा भक्ति रखने से जीव सुलभ बोधि बनता है। स्तुति वह विद्यायिका महाशक्ति है जिसका अर्थ है- महिमा का गान। जैसे कि-

जियरागदोषमोहा      सव्वन्      तियसनाकहकपूया ।  
अच्यंतसच्चवयणा      सिवगड़वगमणा      जयंति जिणा ॥

अर्थात् जिन महापुरुषों ने राग-द्वेष, मोह आदि जीत लिए हैं सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं, इन्होंने के द्वारा जिनकी महिमा का गान किया गया है, जिन के वचन अत्यन्त सत्य हैं, जिनके चरण मोक्ष-द्वारा तक पहुँच चुके हैं उन भगवान् जिनेन्द्र देव की जय हो। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने से जीव सुलभबोधि बनता है। केवलभाषित धर्म की स्तुति इस प्रकार की जाती है जैसे कि:-

वत्थुपयासणसूरो      अरसयरयणाणसरो      जयङ् ।  
सव्व जय जीव बंधुरबंधू दुविहो वि जिणधम्मो ॥

अर्थात् जो धर्म वस्तुओं को प्रकाशित करने में सूर्य के समान है, अतिशयगुण-रत्नों का महासमुद्र है, जगत् के सभी प्राणियों का दिव्य बंधु है, गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप केवलभाषित धर्म सर्वोत्कर्ष वाला होने से विजयशील है। इस प्रकार केवलभाषित धर्म की स्तुति करते रहने से जीव सुलभबोधि बनता है।

आचार्य और उपाध्याय की स्तुति इस प्रकार की जाती है, जैसे कि:-

तेसिं नमो तेसिं नमो, भावेण पुणो वि तेसिं चेव नमो ।  
अणुवकय परहियरया, जे नाणं देति भव्वाणं ॥

अर्थात् उन आचार्य एवं उपाध्यायों को मन वचन और काच से पुनः पुनः भावपूर्वक नमस्कार हो, जो बिना किसी इच्छा के परहित में तत्पर हैं, भव्व आत्माओं के निर्मल ज्ञान देते हैं। इस प्रकार उनकी स्तुति श्लाघा करने से जीव सदगुणों का पात्र बनता है और सुलभबोधिता के योग्य हो जाती है।

चतुर्विध श्री संध की स्तुति इस प्रकार की जाती है, जैसे कि-

एयमि पूड्यमि नत्थि तचं जं न पूड्यं होइ।

भुवणे वि पूआणिजो न गुणी संघाओ जं अन्नो॥

अर्थात् चतुर्विध श्री संध के पूजे जाने पर ऐसा कोई पूज्य नहीं रह जाता है जिस की पुजा करनी शेष रह गई हो। विश्व में श्री संध से अन्य कोई पूजनीय गुणी हो यह सम्भाव्य नहीं है। इस तरह चतुर्विध श्री संध की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधि बनता है।

सम्यादृष्टि देवों का वर्णवाद अर्थात् स्तुति इस प्रकार की जा सकती है जैसे कि-

धण्णा खलु ते देवा विस्यविमोहावि हंत जिण सविहे।

धर्मं सुर्णंति सम्मं तित्थपभावं च कुब्वंति॥

अर्थात् वे धन्य हैं जो विषयों से विमुख रहकर जिनेन्द्र देव के समीप सम्यक् प्रकार से धर्म-उपदेश सुनते हैं और तीर्थ की प्रभावना कहते हैं।

इस प्रकार देवों की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधी बनता है। निन्दा का परिणाम ‘दुर्लभबोधिता’ और स्तुति का परिणाम ‘सुलभबोधित’ है।(श्री स्थानाङ्ग सूत्र पृ. 142)

## दर्शनि ज्ञान के बाधक-साधक कारण

चउहिं ठाणेहिं निगंथाण वा निगंथीण वा अस्सि समयंसि अइसेसे नाणदंसणे समुप्पजिउकामेवि न समुप्पजेजा, तं जहा- अभिक्खणं-अभिक्खणमित्यिकहं, भत्तकहं, देशकहं, रायकहं कहेता भवइ, विवेगेण विउस्सगेण णो सम्ममप्पाणं भविता भवइ, पुव्वरत्तावरत्तकाल समयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवइ, फासुयस्स एसणिज्जस्स उँछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसिता भवइ। इच्छेहिं ठाणेहिं निगंथाण वा निगंथीण वा जाव नो समुप्पजेजा।

चउहिं ठाणेहिं निगंथाण वा निगंथीण वा अइसेसे णाणदंसणे समुप्पजिउकामे, तं जहा- इत्थीकहं, भत्तकहं, देशकहं, रायकहं, नो कहेता भवइ, विवेगेण, विउस्सगाणं सम्ममप्पाणं भावेता भवइ, पुव्वरत्ता-वरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरइत्ता भवइ, फासुयस्स, एसणिज्जस्स, उँछस्स, सामुदाणियस्स सम्मं गवेसिया भवइ। इच्छेहिं चउहिं ठाणेहिं निगंथाण वा निगंथीण वा जाव समुप्पजेजा।(51)(श्री स्थानांग सूत्र-4, पृ. 791)

चार कारणों से भिक्षुओं और भिक्षुणियों को उत्पन्न होने की स्थिति में रहते हुएभी अतिशेष ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नहीं होते। वे चार कारण हैं 1.(यदि वह) निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी प्रतिखण स्थीकथा, भत्तकथा, देशकथा और राजकथा कहता है। 2. यदि विवेक और व्युत्सर्ग द्वारा अपनी आत्मा को सम्यक्

प्रकार से भक्ति नहीं करता। 3. रात्रि के पूर्व और पश्चात् भाग में धर्म- चिन्तनार्थ जागरण नहीं करता। 4. प्रासुक, एषणीय, उंछ और सामुदायिक(एक गृह से दूसरे गृह, दूसरे से तीसरे- इस क्रम से लगातार अव्यवहित रूप में जो भिक्षा मांगी जाती है, वह सामुदान है। सामुदान से प्राप्त भैक्ष्य द्रव्य सामुदायिक कहलाता है) की छानबीन भलीभाँति नहीं करता है। इन चार कारणों से निर्गन्ध और निर्गन्धियों के अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते-होत रूप जाते हैं।

चार कारणों से निर्गस्थ और निर्गन्धियों को अतिशेष ज्ञान-दर्शन यदि उत्पन्न होने की स्थिति में हो तो समुत्पन्न हो जाता है, जैसे- स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा नहीं करता है। विवेक और व्युत्सर्ग के द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित करता है। रात्रि के पूर्व और पश्चात् भाग में धर्मध्यानार्थ धर्म- जाकरण करता है। प्रासुक, एषणीय, उंछ और सामुदानिक की गवेषणा भली-भाँति जागरण करता है। इन चार कारणों से निर्गन्ध और निर्गन्धियों को अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने की स्थिति में हों तो समुत्पन्न हो जाते हैं।

## अनुभवात्मक ज्ञान

अनुभव के लिये कारण-

शास्त्रोपदर्शितदिशा	गलितासदग्रहकषायकलुषाणाम् ।
प्रियमनुभवैकवैद्यं	रहस्यमाविर्भवति किमपि ॥(1)

अध्यात्मसार पृ.स. 438

शास्त्र में बताई हुई दिशा से जिनके असदग्रह, कषाय और कालुस्य(रागद्वेष) नष्ट हो गए हैं, उन पुरुषों को अनुभव से ही जाना जा सके, ऐसा कुछ इष्ट रहस्य प्रगट हो जाता है।

पहिले जिसे आत्मनिश्चय हो जाता है, उसे ऐसा अनुभव होता है, इसलिए इस प्रबन्ध में अनुभव के सम्बन्ध में कहते हैं- जैनागमों में बताई हुई दिशा से - प्रवृत्ति के विधिरूप मार्ग से जिसके कदाग्रह और क्रोधादि नष्ट हो गये हैं, इस कारण जिनके हृदय निर्मल हो गए हैं, उन्हें एकमात्र अनुभव से ही जानने लायक यानी भ्रान्तिरहित यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाले प्रमाण से उत्पन्न हुए ज्ञान से ही जानने लायक और प्रिय, ऐसा कुछ अलौकिक(नवीन) रहस्य(मूढ़ मनुष्यों से गोपनीय परमार्थ) प्रगट हो जाता है।

प्रथमाभ्यासविलासादविर्भूयैव	यत्क्षणाल्लीनम् ।
चंचतरुणीविभ्रमसम्मुत्तरलं	मनः कुरुते ॥(2)

जो रहस्य प्रथम अभ्यास के विलास से प्रकट हो कर क्षणभर में तल्लीन हुए मन को युवती स्त्री के मनोहर विलास के समान अत्यन्त आतुरता वाला बना देता है।

योगीजन को प्रिय अनुभव से ज्ञान हो सकने वाला जो रहस्य प्रथम अभ्यास के विलास से,(यानी पहले का- प्रारम्भ के समय का- अभ्यास= आध्यतिमिकता का बार-बार सेवन, उसके विलास से) प्रगट हो कर अल्पकाल में ही आत्मा में तल्लीन हुए मन को इस प्रकार उत्सुक(आतुर) बना देता है(यानी वह रहस्यप्राप्ति की तीव्र तमन्ना पैदा कर देता है) जिस प्रकार कामुक पुरुष को युवा कामिनी का विलास(श्रृंगार, अंगचेष्टा, तथा हावभाव) सहसा आतुर कर देता है; तात्पर्य यह है, इसी दशा में अध्यात्म-रहस्याभिलाषी योगीजन का मन आत्मरहस्य के विलास-रस में सतत आतुर होता है।

#### 5 प्रकार का मन-

सुविदितयोगैरिष्ट क्षिप्तं मूढं तथैव विक्षिप्तम्।  
एकाग्रं च निरुद्धं चेतः पञ्चप्रकारमिति ॥(3)

जिसने योग के स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया है, उन योगियों ने 5 प्रकार का मन बताया है-(1) क्षिप्त,(2) मूढ़,(3) विक्षिप्त,(4) एकाग्र और(5) निरुद्ध।

जिसने योग= ब्रह्मात्म प्राप्त करने के उपाय - को भली भाँति समझ लिया है, उन योगियों ने 5 प्रकार का चित्त बताया है- क्षिप्त= विषय और रागादि में मग्न,(2) मूढ़= इहलोक-परलोक के सम्बन्ध में विवेक रहित मन,(3) विक्षिप्त= कुछ रक्त और कुछ विरक्त मन,(4) एकाग्र-समाधि में स्थिर मन और(5) निरुद्ध= बाह्य विषयों का त्याग करके आत्मा में ही स्थिर रहने वाला। इन पांचों का विवरण क्रमशः इस प्रकार है-

#### क्षिप्त मन-

विषयेषु कल्पितेष्यु च पुरः स्थितेषु च निवेशितं रजसा ।  
सुख- दुःखयुग्महिमुखमानातं क्षिप्तमिह चित्तम् ॥(4)

कल्पित और सामने रहे हुए विषयों में राग के स्थापित हुए, सुख और दुःख से मुक्त तथा अध्यात्म से बहिर्मुख चित्त को क्षिप्त कहते हैं।

#### मूढ़ मन-

क्रोधादिभिर्नियमितं विरुद्धकृत्येषु यज्ञमोभूम्ना ।  
कृत्याकृत्यविभागासंगतमेतन्मनो मूढम् ॥(5)

जो मन तमो गुण के बाहुल्य से विरुद्ध कार्यों में क्रोधादि से नियमित हुआ तथा कृत्य-अकृत्य के विभाग(विवेक) से रहित है, वह मन मूढ़ कहलाता है।

विक्षिप्त मन-

सत्वोद्रेकात् परिहतदुःखनिदानेषु सुखनिदानेषु ।  
शब्दादिषु प्रकृतं सदैव चित्तं तु विक्षिप्तम् ॥(6)

सत्त्वगुण की अधिकता के कारण दुख के मूल कारणों से रहित और शब्दादि सुख के मूल कारणों में निरन्तर प्रकृत हुआ चित्त विक्षिप्त कहलाता है।

एकाग्र मन-

अद्वेषादिगुणवत्तां नित्यं खेदादिदोषपरिहारात् ।  
सद्वशप्रत्ययं संगतमेकाग्रं चित्तमान्नातम् ॥(7)

अद्वेष आदि गुणवाला, निरन्तर खेद वगैरह दोषों के त्याग से समान परिणाम को प्राप्त जो मन है, उसे एकाग्र कहा गया है।

निरुद्ध मन-

उपरतविकल्पवृत्तिकमवग्रहादिक्रमच्युतं शुद्धम् ।  
आत्माराममुनीनां भवति निरुद्धं सदा चेतः ॥(8)

जिस मन से विकल्प की वृत्तियाँ शान्त हो गई हैं, जो अवग्रहादि(प्रतिबन्ध आदि) के क्रम से पृथक है, ऐसा आत्माराम मुनियों का सदा उज्ज्वल चित्त निरुद्ध कहलाता है।

एकाग्रता मन के लिये त्याज्य अवस्थायें

न समाधावुपयोगं तिष्ठश्चेतोदशा इह लभन्ते ।  
सत्वोत्कर्षात् स्थैर्यादुभे समाधी सुखातिशयात् ॥(9)

इस समाधि में चित्त की पहली तीन अवस्थाएँ उपयोग में नहीं आती, परन्तु सत्त्व के उत्कर्ष के कारण, स्थैर्य के कारण, तथा अतिशय सुख के कारण चित्त की अन्तिम दो अवस्थाएँ उपयोग में आती हैं।

चित्त की प्रथम तीन अवस्थाएँ - क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त मन की दशाएँ समाधि के लिए निश्चल एकाग्र ध्यान के लिए, उपयोगी नहीं होती, इसलिए त्याज्य हैं। चित्त की अन्तिम दो अवस्थाएँ - एकाग्र और निरुद्ध मन की दशाएँ- सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण चित्तनिरोध में स्थिरता के कारण तथा अतिशय सुखसमाधि के योग्य होने से समाधि के लिए उपयोगी होती हैं, इसलिए दोनों अवस्थाएँ उपादेय हैं।

योगारम्भस्तु भवेद्विक्षिप्ते मनसि जातु सानन्दे ।  
क्षिप्ते मूढे चास्मिन् व्युत्थानं भवति नियमेन ॥(10)

विक्षिप्त मन कदादित् आनन्दयुक्त होने से उसमें योग का आरम्भ हो सकता है; परन्तु क्षिप्त और मूढ़ मन तो इसमें अवश्य ही व्युत्थानरूप होते हैं।

तीसरी अवस्था वाला रागी और विरागी दोनों प्रकार का मन, जो विक्षिप्त कहलाता है, वह कभी चंचल रहता है, इधर-उधर भटकता है, कभी कुछ आनन्दयुक्त होकर धर्म प्रेमी हो जाता है। उस मन में योग का यानी समाधि की प्राप्ति के उपयोग का प्रारम्भ हो सकता है। क्योंकि योग की प्रारम्भिक अवस्था की समाधि में इस(विक्षिप्त) मन मन में स्थिरता आती-जाती रहती है। इसलिए यह मन कदाचित् उपयोगी हो सकता है, लेकिन रागादि से ग्रस्त क्षिप्त मन और क्रोधादि से मूढ़ मन रागादि संस्कारों का अवश्य उद्भव करने वाले(व्युत्थानकारक) होने से अवश्य ही त्याज्य हैं।

विषयकषायनिवृत्तं योगेषु च संचरिष्णुविविधेषु।  
गृहखेलद्बालोपमणि चलमिष्टं मनोऽभ्यासे ॥(11)

विषयों और कषायों से निवृत हुआ, विविध प्रकार के योगों में गमन करने वाल, और घर के आँगन में क्रिड़ा करते हुए बालक के समान चपल मन हो तो वह अभ्यासदशा में इष्ट है।

शब्दादि विषयों और क्रोधादि कषायों से विमुख हुआ तथा विविध प्रकार के योगों- मोक्ष के उपायों में गमन करने वाल, और घर के आँगन में खेलते हुए बालक के समान भद्रपरिणाम के कारण अन्तर्मुखी विक्षिप्त मन(अन्तःकरण) चपल हो तो भी अभ्यासकाल(बार-बार उपायों के परिशीलन करते समय) को योगसाधना के लिए यह साधन के रूप में इष्ट है।

वचनानुष्ठानगतं यातायातं च सातिचारमणि।  
चेतोऽभ्यासदशायां गजांकुशन्यायतोऽदृष्टम् ॥(12)

वचनानुष्ठान में रहा हुआ मन यद्यपि गमनागमन करते समय अतिचार -सहित होता है, फिर भी अभ्यासदशा में गजांकुशन्याय(दृष्टान्त) के अनुसार अदूषित है।

शास्त्रोक्त वचनानुसार अनुष्ठान(क्रिया) करने में तत्पर मन कभी बाहर चला जाता है, कभी अन्दर स्थित रहता है, इस प्रकार बार-बार गमनागमन करने वाला होने से सातिचार=सदोष मन भी प्राथमिक योगाभ्यासदशा में गजांकुश-न्याय से अर्थात् हाथी अंकुश के प्रहार से सम्यक् मार्ग में चलता है यानी सुन्दरगति करने लगता है, इस दृष्टान्त के अनुसार अदूषित है, क्योंकि शिक्षा के योग से उसे मार्गानुसारी के परिणाम वाला किया जा सकता है। इसलिए विक्षिप्त मन अभ्यासदशा में दूषित नहीं है।

मन - वश करने के उपाय

ज्ञानविचाराभिमुखं यथा यथा भवति किमपि सानन्दम्।  
अथैः प्रलोभ्य बाहौरनुगृण्हीयात्तया चेतः ॥(13)

जैसे -जैसे चित्त कुछ(धर्मकार्य में) आनन्दयुक्त और ज्ञान तथा विचार के समुख होता जाय, वैसे-वैसे बाह्य पदार्थों से उसे प्रलोभन देकर वश करना चाहिए।

जिस-जिस प्रकार से मन धर्मकार्य में हर्षयुक्त(अतिप्रसन्न) और कुछ ज्ञान तथा विचार के समुख होता जाय, उस-उस प्रकार से बाह्य-आत्मा से भिन्न-(वक्ष्यमाण) शुभ आलम्बनभूत पदार्थों का प्रलोभन देकर उनमें प्रीति पैदा करके उस मन को वश में करना चाहिए।

अभिरुपजिनप्रतिमां विशिष्टपदवर्णवाक्यरचनां च ।  
पुरुषविशेषादिकमप्यत् एवाऽलम्बनं ब्रुवते ॥(14)

इसलिए सुन्दर जिन प्रतिमा, विशिष्ट पद, वर्ण और वाक्यरचना को तथा विशिष्ट प्रकार के पुरुषादि को भी आलम्बनभूत कहे हैं।

बाह्य शुभप्रवृत्ति में चित्त को लगा कर उससे निग्रह किया जा सकता है, इसलिए प्रशस्त लक्षण वाली मनोहरलक्षणों(आकृति आदि) से युक्त, आत्मा में आहाद उत्पन्न करने वाली जिन प्रतिमा(तीर्थकर विम्ब), तथा शुभ सूचक मांगलिक ललित(आगमोक्त आत्मा, चेतन, जीव, वगैरह) पदों की वर्णोंकी(गम्भीर अर्थ को प्रगट करने वाले प्रणवादि अक्षरों की), 'जगदगुरु जिनेश्वर विजयी होते हैं, इत्यादि पदसमूहरूप वाक्यों की रचना(काव्यकृति, या सुलेखरचना), गणधरादि सुसाधु आदि वगैरह पुरुषविशेषादि तथा शास्त्रपाठ आदि को भी आलम्बन भूत कहे हैं। इन सब को चित्त निग्रह के लिए शुभ-आश्रयरूप कहे हैं।

आलम्बनैः प्रशस्तैः प्रायो भावः प्रशस्त एव यतः ।  
इति सालम्बनयोगी मनः शुभालम्बनं दध्यात् ॥(15)

इसलिए प्रशस्त आलम्बनों से प्रायः प्रशस्तभाव ही होते हैं। इस आलम्बन के अभिलाषी योगी को अपना मन शुभ आलम्बन में जोड़ना चाहिए।

पूर्वकथानुसार प्रशस्त आलम्बनों का आश्रय लेने से प्रायः प्रशस्त भाव जागृत होते ही है, इसलिए आलम्बन चाहने वाले यागीजन को शुभ आलम्बन में ही मन को जोड़ना चाहिए और उसे प्रशस्त परिणाम बाला बनाना चाहिए।

सालम्बनं क्षणमपि क्षणमपि कुर्यान्मनो नियलम्बम् ।

इत्यनुभवपरिपाकादाकालं स्वात्रिगालम्बम् ॥(16)

मन को क्षण में सालम्बन(शुभ आश्रय से युक्त) करना और क्षण भर में आलम्बनरहित करना

चाहिए। यों करते-करते अनुभव का परिपाक हो जाने पर आजीवन(सदा के लिए) मन निरालम्बन (आलम्बन-रहित) हो जाता है।

एक क्षण के लिए चित्त को शुभ आलम्बन से युक्त करना और एक क्षण के लिए बाह्य विषयों का त्याग करके अपनी आत्मा में लीन करके निरालम्बन करना चाहिए इस प्रकार जब स्वात्मानुभव परिपक्व हो जाए, तब जिंदगीभर मन निरालम्ब बन जाता है।

आलम्ब्यैकपदार्थं यदा न किंचिद् विचिन्तयेदन्यत् ।

अनुपनतेन्धनवन्हिवदुपशान्तं स्यात्तदा चेतः ॥(17)

जब मन एक पदार्थ का आलम्बन ले कर उसके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन न करे, तब उस अग्नि की तरह शान्त हो जाता है, जिसे इन्धन नहीं मिलता।

जिस दशा में एक पदार्थ(द्रव्यरूप या पर्यायरूप एक भाव) का आलम्बन लेकर अर्थात् उसे ध्येयरूप में स्वीकार करके फिर दूसरे किसी भी द्रव्य या पर्याय का चिन्तन मन में करे नहीं, तब उस अवस्था में जिसे इंधन नहीं मिलता, उस आग की तरह मन बिल्कुल शान्त हो जाता है, यानी वह शम और निर्वेद के स्थायित्व को प्राप्त कर लेता है।

शान्त एवं एकाग्रमन से लाभ-

शोक-मद-मदन-मत्सर-कलह-कदाग्रह-विषाद- वराणि ।

क्षीयन्ते शान्तहृदामनुभव एवात्र साक्षी नः ॥(18)

शान्त हृदय वालों के शोक, मद, काम, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैर ये सब क्षीण हो जाते हैं, शमयुक्त चित्त वालों के शोक इष्टवियोगादि से उत्पन्न हुआ चित्त का उद्वेग अथवा पश्चाताप (जाति आदि 8 प्रकार के मद, कामविकार, मत्सर(डाह, ईर्ष्या= दूसरे के गुणों को न सहना), कलह(वायुद्ध, झगड़ा), कदाग्रह(मिथ्या आग्रह) विषाद(कार्य करने की अशक्ति) और वैर(विरोध द्वेष) ये सब क्षीण हो जाते हैं। शान्तचित्त व्यक्तियों के शोकादि का नाश होने में हमारा अनुभव ही, यानी प्रकट हुई गुणसम्पत्ति का साक्षात् दर्शन करने वाली हमारी बुद्धि ही साक्षीभूत है, अर्थात् उसे साक्षात् देखने वाली है।

शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते, शान्तमात्मनः सहजम् ।

भस्मीभवत्यविद्या मोहध्वानं विलयमेति ॥(19)

मन शान्त हो जाने पर आत्मा की स्वाभाविक और शान्त ज्योति प्रकाशित होती है, अविद्या भस्मीभूत हो जाती है और मोहरूपी अन्धकार का सर्वथा विनाश हो जाता है।

जब चित्तवृत्ति शान्त(निर्विकार) हो जाती है, तब आत्मा की सहज(स्वभाव सिद्ध) और शान्त(विभाव विकार रहित) ज्योति प्रकाशित होती है, यानी सबको प्रकाशित करने वाला चैतन्य प्रकाशित हो जाता है, उसके साथ ही अज्ञानदशा भस्मीभूत यानी निर्मूल हो जाती है और मोहरूपी अन्धकार सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

### असाधारण ज्ञान

अवधिज्ञान ऋद्धिः:-

अंतिम -खंदंताइं, परमाणु- प्पहुदि-मुत्ति दब्बाइं।

जं पच्चक्खं जाणइ, तमोहिणाणं ति णादवं॥(981)

(तिलोयपण्णती II पृ. 295)

जो(देश) प्रत्यक्ष-ज्ञान अन्तिम स्कन्ध-पर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्यों को जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए।

मनः पर्ययज्ञान ऋद्धिः:-

चिंतियमचिंतियं वा, अद्वं चिंतियमणेय- भेय-गच्छं।

जं जाणइ णर- लोए, तं चिय मणपञ्जवं णाणं॥(982)

मनुष्य लोक में स्थित अनेक भेद रूप चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित पदार्थों को जो ज्ञान जानता है वह मनः पर्ययज्ञान है।

केवलज्ञान

उपविडु-सयल-भावं, लोयालोएसु तिमिर-परिचत्तं।

केवलमरखंड-भेदं, केवलणाणं भण्ठंति जिणा॥(983)

जो ज्ञान प्रतिपक्षी से रहित होकर सम्पूर्ण—पदार्थों को विषय करता है, लोक एवं अलोक के विषय में अज्ञान-तिमिर से रहित है, केवल(इन्द्रियादिक की सहायता से रहित) है और अखण्ड है, उसे जिनेन्द्र देव केवलज्ञान कहते हैं।

## बीजबुद्धि

णोइंदिय-सुदणाणावरणां वीरअंतरायाए।  
 तिविहाणं पयडीणं, उक्सस-खओवसम-विसुद्धस्म ॥(984)  
 संखेज- सरूवाणं, सद्वाणं तत्थ लिंग-संजुतं।  
 एकं चिय बीजपदं, लदधून गुरुवदेसेण ॥(985)  
 तम्मि पदे आहारे, सयल-सुदं चिंतिऊण गेणहेदि।  
 कस्म वि महेसिणो जा, बुद्धी सा बीज-बुद्धि त्ति ॥(986)

नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी भी महर्षि की जो बुद्धि संख्यात-स्वरूप में मध्य में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को गुरु के उपदेश से प्राप्त कर उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर ग्रहण करती है, यह बीज-बुद्धि है।

## कोष्ठबुद्धि

उक्सस-धारणाए, जुतो पुरिसो गुरुवदेसेण।  
 णाणविह- गंथेसु, वित्थारे लिंग-सद- बीजाणि ॥(987)  
 गहिऊण णिय-मदीए, मिस्सेण विणा धरेदि मदि-कोडे।  
 जो होदि तस्स बुद्धी, णिद्विडा कोड-बुद्धि त्ति ॥(988)

उत्कृष्ट धारणा से युक्त जो कोई पुरुष(ऋषि) गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तार पूर्वक लिंग सहित शब्द रूप बीजों को अपनी बुद्धि से ग्रहण कर उन्हें मिश्रण में बिना बुद्धि रूपी कोठे में धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठ-बुद्धि कही गई है।

## पदानुसारणी बुद्धि

बुद्धि वियक्ख-णाणं, पदाणुसारी हवेदि तिवियप्पा।  
 अणुसारी पडिसारी, जहत्थ-णामा उभयसारी ॥(989)

विशिष्ट ज्ञान को पदानुसारणी बुद्धि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं- अनुसारणी, प्रतिसारणी और उभयसारणी ये तीनों बुद्धियाँ यथार्थ नाम वाली हैं।

## अवसारणी बुद्धि

आदि अवसाण-मज्जे, गुरुवदेसेण एक-बीज-पदं।  
 गेणहेय अवरिम-गंध, जा गिणहेदि सा मदी हु अणुसारी ॥(990)

जो बुद्धि आदि, मध्य एवं अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीज पद को ग्रहण करके उपरित ग्रन्थ करती है वह अनुसारणी बुद्धि कहलाती है।

### प्रतिसारिणी बुद्धि

आदि अवसाण-मज्जां, गुरुवदेसेण एक -बीज-पदं।

गोणिह्य हेट्टिम-गंथं, बुज्ज्ञादि जा सा च पडिसारी ॥(991)

गुरु के उपदेश से आदि, मध्य अथवा अन्त में एक बीज पद को ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन ग्रन्थ को जानती है, वह प्रतिसारणी बुद्धि कहलाती है।

### उभय-सारणी बुद्धि

णियमेण अणियमेण य, जुगवं एगस्स बीज-सहस्स।

उवरिम-हेट्टिम- गंथं, जा बुज्ज्ञाइ उभयसारी सा ॥(992)

जो बुद्धि नियम अथवा अनियम से एक बीज-शब्द के(ग्रहण करने पर) उपरिम और अधस्तन ग्रन्थ को एक साथ जानती है, वह उभयसारणी बुद्धि है।

### सम्भिन्नश्रोतृत्व -बुद्धि-ऋद्धि

सोदिंदिय -सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।

उक्कस्स- ख्वोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि ॥(993)

सोदुक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज-जोयण-पएस।

संठिय-णर-तिरियाणं, बहुविह-सदे-सुमुत्थंते ॥(994)

अक्खर-अणक्खरमए, सोइणं दस-दिसासु पत्तेकं।

जं दिज्जदि पडिवयणं, तं चिय संभिण्ण सोदित्तं ॥(995)

श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्र-इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दसों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यकों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह सम्भिन्नश्रोतृत्व नामक बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

### दूरास्वादित्व - ॠद्धि

जिबिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।

उक्कस्स-ख्वोवसमे उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि ॥(996)

जिभुक्सस्- खिदीदो, बाहिं संखेज- जोयण-ठियाणं ।

विविह-रसाणं सादं, जं जाणइ दूर-सादित्तं ॥(997)

जिह्वन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर जो जिह्वा-इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध-रसों के स्वाद को जानती है, उसे दूरस्वादित्व - क्रद्धि कहते हैं ।

दूरस्पर्शत्व - क्रद्धि

फासिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए ।

उक्सस्म-खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि ॥(998)

फासुक्सस्-खिदीदो, बाहिं संखेज-जोयण-ठियाणं ।

अड्ड- विहप्कासाणिं, जं जाणइ दूर-फासत्तं ॥(999)

स्पर्शनिन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर जो स्पर्शनिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जानती है वह दूरस्पर्शत्व - क्रद्धि है ।

दूर- घ्राणत्व- क्रद्धि

घाणिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए ।

उक्सस्म- खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि ॥(1000)

घाणुक्सस्-खिदीदो, बाहिं संखेज-जोयण-गदाणिं ।

जं बहुविह- गंधाणिं, तं घायदि दूर-घाणत्तं ॥(1001)

घ्राणेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर जो घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में प्राप्त हुए बहुत प्रकार के गन्धों को सूँघती है, वह दूरघ्राणत्व क्रद्धि है ।

दूर-श्रवणत्व - क्रद्धि

सोदिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए ।

उक्सस्म-खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि ॥(1002)

सोदुक्सस्-खिदीदो, बाहिं संखेज-जोयण-पएसे ।

चिंडुताणं माणुस-तिरियाणं बहु-वियप्पाणं ॥(1003)

अक्खर-अणक्खरमए, बहुविह-सदे विसेस-संजुते।  
उप्पणे आयण्णइ, जं भणिअं दूर-सवण्तं ॥(1004)

श्रोतेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यन्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर जो क्षोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र के बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित-रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्यों एवं तिर्यकों की विशेषता से संयुक्त अनेक प्रकार के अक्षरानक्षरात्मक शब्दों के उत्पन्न होने पर उनका श्रवण करती है, उसे दूरश्रवणत्व क्रद्धि कहा गया है।

दूर-दर्शित्व-क्रद्धि

रुविंदिय - सुदणाणवरणाणं वीरियंतरायाए।  
उक्कस्म-खओवस मे, उदिदंगोवंग- णाम-कम्मम्मि ॥(1005)  
रुउक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज-जोयण-ठिदाइं।  
जं बहुविह- दव्वाइं, देक्खइ तं दूरदरिसिणं णाम ॥(1006)

चक्षुरिन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यन्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म का उदय होने पर जो चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखती है, वह दूरदर्शित्व-क्रद्धि है।

दश- पूर्वित्व-क्रद्धि

रोहिणी पहुदीणं महाविज्ञाणं देवदाउ पंच सया।  
अंगुड़- पसेणाइं, खुल्लय- विज्ञाण सत्त सया ॥(1007)  
एन्तुण पेसणाइं, मग्गंते दसम-पुव्व- पढणम्मि।  
णेच्छंति संजमंता, ताओ जे ते अभिण्णदसपुव्वी ॥(1008)  
भुवणेसु सुप्पसिद्धा, विज्ञाहर- समण-णाम-पजाया।  
ताणं मुणीण बुद्धी, दसपुव्वी णाम बोद्धव्वा ॥(1009)

दस- पूर्व पढ़ने में रोहिणी आदि महाविद्याओं के पाँचसौ और अंगुष्ठ प्रसेनादिक(प्रशनादिक) क्षुद्र(लघु) विद्याओं के सात सौ देवता आकर आज्ञा मांगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते वे 'विद्याधर श्रमण' पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदसपूर्वी कहलाते हैं। उन क्रषियों की बुद्धि को दस-पूर्वी जानना चाहिए।

चौदह - पूर्वित्व ऋद्धि

सयलागम-पारगया, सुदकेवलि-णाम-सुप्रसिद्धा जे ।

एदाण बुद्धि-रिद्धी, चोहसपुव्वि ति णामेण ॥(1010)

जो महर्षि सम्पूर्ण आगम के पारंगत हैं तथा श्रुतकेवली नाम से सुप्रसिद्ध हैं उनके चौदहपूर्वी नाम बुद्धि-ऋद्धि होती है।

निमित्त - ऋद्धि के अन्तर्गत नभ, भौम आदि निमित्तों का निरूपण

णाइमित्तिका य रिद्धी, णभ-भउमं - सराइ वेजणयं ।

लक्खण- चिण्हं सउणं, अटु- वियप्पेहि वित्थरिदं ॥(1011)

नैमित्तिक ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण,

चिन्ह (छिन्न ?) और स्वप्न इन आठ भेदों से विस्तृत है।

नभ-निमित्त

रवि-ससि-गह-पहुदीणं, उदयत्थमणादिआइ दझूणं ।

कालत्तय-दुक्ख-सुहं, जं जाणइ तं हि णह-णिमित्तं ॥(102)

सूर्य, चन्द्र और ग्रह आदि के उदय एवं अस्त आदिकों को देखकर जो कालत्रय के दुःख-सुख आदि का जानना है, वह नभ-निमित्त है।

भौम-निमित्त

घण-सुसिर-णिद्ध-लुक्ख-प्पहुदि-गुणे भाविदूण भूमीए ।

जं जाणइ खय-वडिं तम्मयस-कणय-रजद-पमुहाणं ॥(1013)

दिस-विदिस-अंतरेसुं, चउरंग-बलं ठिदं च दझूणं ।

जं जाणइ जयमजयं, तं भउम-णिमित्तमुहिङं ॥(1014) ।

पृथिवी के घन (सान्द्रता), सुषिर (पोलापन), स्निग्धता और रुक्षता आदि गुणों का विचार कर जो तांबा, लोहा, स्वर्ण एवं चाँदी आदि धातुओं की हानि वृद्धि को तथा दिशा-विदिशाओं के अन्तरालों में स्थित चतुरंग बल को देखकर जो जय-पराजय को भी जानता है, उसे भौम-निमित्त कहा गया है।

अंग निमित्त

वातादि-प्पयडीओ, रुहिर-प्पहुदिस्सहाव-सत्ताइं ।

णिण्णाण उण्णयाणं, अंगोवंगाण दंसणा पासा ॥(1015) ।

णर-तिरियाणं दझुं, जं जाणइ दुक्ख-सोक्ख-मरणादिं ।

कालत्तय-णिप्पणं, अंग णिमित्तं पसिद्धं तु ॥(1016)

जिससे मनुष्य और तिर्यकों के निम एवं उन्नत अंग-उपांगों के दर्शन एवं स्पर्श से वातादि तीन

प्रकृतियों और रुधिरादि सात स्वभावों (धातुओं) को देखकर तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख तथा मरण-आदि को जाना जाता है, वह अंग-निमित्त नाम से प्रसिद्ध है।

### स्वर-निमित्त

णर-तिरियाणं विचित्तं, सद्बं सोदूण दुक्ख-सोक्खादिं।

कालत्तय-णिष्पण्णं, जं जाणइ तं सर-णिमित्तं।(1017)

जिसके द्वारा मनुष्यों और तिर्यकों के विचित्र शब्दों को सुनकर कालत्रय में होने वाले दुःख-सुख को जाना जाता है वह स्वर-निमित्त है।

### व्यञ्जन - निमित्त

सिर-मुह-कंठ-प्पहु - दिसु, तिल-मसय-प्पहुदिआइ दद्वूणं।

जं तिय-काल-सुहाइं, जाणइ तं वैंजण-णिमित्तं।(1018)

सिर, मुख और कण्ठ आदि पर तिल एवं मसे आदि को देखकर तीनों काल के सुखादिक को जानना, सो व्यञ्जन निमित्त है।

### लक्षण - निमित्त

कर-चरणतल-प्पहुदिसु, पंक्य कुलि सादियाणि दद्वूणं।

जं तिय-काल-सुहाइं, लक्खड़ तं लक्खण-णिमित्तं।(1019)

हस्ततल (हथेली) और चरणतल (पगतली) आदि में कमल एवं वज्र इत्यादि चिन्हों को देखकर कालत्रय में होने वाले सुखादि को जानना, यह लक्षण निमित्त है।

### चिह्न - निमित्त

सुर-दाणव-रक्खस-णर-तिरिएहि छिण्णा-सत्थ-पत्थाणि।

पासाद-णयर-देसादियाणि चिण्हाणि दद्वूणं।(1020)

कालत्तय-संभूदं, सुहासुहं मरण-विविह-दब्वं च।

सुह-दुक्खाइं लक्खड़, चिण्ह-णिमित्तति तं जाणइ।(1021)

देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यकों के द्वारा छेदे गये शरीर एवं वस्त्रादि तथा प्रासाद, नगर और देशादिक चिन्हों को देखकर त्रिकाल में उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ को, मरण को विविध प्रकार के द्रव्यों को और सुख-दुःख को जानना यह चिह्न निमित्त है।

### स्वप्न-निमित्त

वातादि-दोस-चत्तो, पच्छिम-रत्ते मर्यंक-रवि पहुदिं।

णिय-मुह-कमल-पविडं देक्खड़ सउणम्मि सुह-सउणे।(1022)

घड-तेल्लबंगादी, रासह-करभादिएसु आरोहं।  
 परदेस - गमण- सवं, जं देकखइ असुह सउणं तं।(1023)  
 जं भासइ दुक्ख- सुह-प्पमुहं कालत्तए वि संजादं।  
 तं चिय सउण-णिमित्तं, चिण्हा मालो ति दो-भेदं।(1024)  
 करि-केसरि-पहुदीणं, दंसण-मेत्तादि चिण्ह-सउणं तं।  
 पुव्वावर-संबंधं, सउणं तं माल-सउणो ति।(1025)

वात-पित्तादि दोषों से रहित सोया हुआ व्यक्ति पिछली रात्रि में यदि अपने मुखकमल में प्रविष्ट होते हुए सूर्य-चन्द्र आदि शुभ स्वप्नों को देखे तथा धृत एवं तैल आदि की मालिश, गर्दभ एवं ऊट आदि पर सवारी और परदेश-गमनादि रूप अशुभ स्वप्न देखे तो उसके फलस्वरूप तीन काल में होने वाले मुख-दुःखादिक को बतलाना स्वप्न-निमित्त है। इसके चिन्ह और माला रूप से दो भेद हैं। इनमें से स्वप्न में हाथी एवं सिंहादिक के दर्शन मात्र आदिक को चिन्ह-रूप स्वप्न और पूर्वापर सम्बन्ध रखने वाले स्वप्न को माला स्वप्न कहते हैं।

#### प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि

पगदीए सुदणाणावरणाए वीरियंतरायाए।  
 उक्सस-खड़ोवसमे, उप्पजइ पण्ण-समणद्वी।(1026)  
 पण्णा-सधणद्वी-जुदो, चोहस-पुव्वीसु विसय-सुहमत्तं  
 सवं हि सुदं जाणदि, अकअज्ज्ञाअणो वि णियमेण।(1027)  
 भासंति तस्म बुद्धि, पण्णा-समणद्वी सा च चउ-भेदा  
 अउपत्तिय-परिणामिय-वडणइकी-कम्मजाभिधाणेहि।(1028)

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञा-श्रमण ऋद्धि उत्पन्न होती है। प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि से युक्त महर्षि बिना अध्ययन किए ही चौदह-पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता पूर्वक सम्पूर्ण श्रुत को जानता है और उसका नियम-पूर्वक निरूपण करता है। उसकी बुद्धि को प्रज्ञा- श्रमण ऋद्धि कहते हैं। वह औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनियकी और कर्मजा इन चार नामों वाली जाननी चाहिए।

अउपत्तिकी भवंतर-सुद-विणाएं समुल्लसिद्धावा।  
 णिय-णिय-जादि-विसेसे, उप्पण्णा पारिणामिकी णामा।(1029)  
 वडणइकी विणाएं, उप्पजादि बारसंग-सुद-जोग्गे।  
 उवदेसेण विणा तव-विसेस - लाहेण कम्मजा तुरिमा।(1030)

पूर्व-भव में श्रुत के प्रति की गई विनय से उत्पन्न होने वाली औत्पत्तिकी, निज-निज जाति-विशेष में उत्पन्न हई पारिणामिकी, द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली वैनियकी और उपदेश के

बिना ही विशेष तप की प्राप्ति से आविर्भूत हुई चौथी कर्मजा प्रज्ञा- श्रमण क्रद्धि समझनी चाहिए।

### प्रत्येक - बुद्धि

कम्माण उवसमेण य, गुरुवदेसं विणा पि पावेदि।

सण्णाण-तवप्पगमं, जीए पत्तेय - बुद्धि सा।(1031)

जिसके द्वारा गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है, वह प्रत्येक - बुद्धि कहलाती है।

### वादित्व क्रद्धि

सक्रादिं पि विपक्खं, बहुवादेहिं णिरूत्तरं कुणदि।

पर - दब्बाइ गवेसइ, जीए वादित्त- बुद्धीए।(1032)

जिस क्रद्धि के द्वारा शाक्यादिक (या शक्रादि) विपक्षियों को भी बहुत भारी वाद से निरूत्तर कर दिया जाता है और पर के द्रव्यों की गवेषणा (परीक्षा) की जाती है। (या दूसरों के छिद्र अथवा दोष दूँड़े जाते हैं) वह वादित्त्व बुद्धि-क्रद्धि कहलाती है।

### अवधिज्ञान

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।(22) (स्वतंत्रता के सूत्र पृ. 85)

(The other kind of visual or direct material knowledge is) of six kinds (and it) arises from the part destruction, part sub-sidence and part operation (of the karmas which obscure visual or direct material knowledge) This is acquired by the other i. e. by human and sub-human beings who are possessed of mind.

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है। जो शेष अर्थात् तिर्यकों और मनुष्यों के होता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसका सविस्तार सुन्दर वर्णन अग्र प्रकार किया है---

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद है---(i) अनुगामी (ii) अननुगामी (iii) अवस्थित (iv) अनवस्थित (v) वर्धमान (vi) हीयमान।

(i) अनुगामी——जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ जाये उसको अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं---(1) क्षेत्रानुगामी (2) भवानुगामी (3) उभयानुगामी।

(1) क्षेत्रानुगामी——जो दूसरे क्षेत्र में साथ जायें उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं।

(2) भवानुगामी——जो दूसरे भव में साथ जाये उसको भवानुगामी कहते हैं।

(3) उभयानुगामी——जो दूसरे क्षेत्र तथा भव में साथ जायें उसको उभयानुगामी कहते हैं।

(III) अननुगामी——जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ न जाये उसको अननुगामी कहते हैं।

इसके भी तीन भेद हैं---(1) क्षेत्रानुगामी (2) भावननुगामी (3) उभयाननुगामी।

(III) अवस्थित——सूर्यमण्डल की तरह न घटे न बढ़े उसको अवस्थित कहते हैं।

(IV) अनवस्थित——जो चन्द्र मण्डल की तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसे अनवस्थित कहते हैं।

(V) वर्धमान——जो शुक्लपक्ष की चन्द्र की तरह अपने अन्तिम स्थान तक बढ़ता जाये उसको वर्धमान कहते हैं।

(VI) हीयमान——जो कृष्णपक्ष के चन्द्र की तरह अंतिम स्थान तक घटता जाये उसको हीयमान कहते हैं।

सामान्यतया अवधिज्ञान के जो तीन भेद बताये हैं, उनमें से केवल गुण प्रत्यय देशावधिज्ञान के ही अनुगामी आदि छह भेद हुआ करते हैं।

भवपच्छइगो ओही, देसोही होदि परमसब्बोही।

गुणपच्छइगो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि॥

जीवकाण्ड भाग 2 (373)

भव प्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होती है और परमावधि तथा सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही हुआ करते हैं। देशावधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों तरह का होता है।

दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के निमित्त से होने वाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकार का होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियम से देशावधिरूप ही हुआ करता है।

देसोहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं।

परमोही सब्बोही, चरमसरीरस्स विरदस्स॥ (374)

जघन्य देशावधिज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकार के मनुष्य तथा देशसंयमी संयतासंयत तिर्यक्त्रों के होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत जीवों के ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी महाब्रती के ही होता है।

पडिवादी देसोही, अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ।

मिच्छतं अविरमणं, ण य पडिवजंति चरमदुगे॥ (375)

देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधि वाले जीव नियम से मिथ्यात्व और अब्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते।

सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व और असंयम की प्राप्ति को प्रतिपात कहते हैं।

इस तरह का यह प्रतिपात देशावधि वाले का ही हो सकता है। परमावधि और सर्वावधि वाले का नहीं होता। फलतः ये दोनों अन्तिम अवधिज्ञान अप्रतिपाती ही हैं और देशावधिज्ञान प्रतिपाती अप्रतिपाती दोनों ही तरह का है।

## मनः पर्यायज्ञान

ऋजुविपुलमतिमनः पर्ययः ।(23)

### **Mental knowledge (is of two kinds)—**

**कञ्जुमति** Simple direct knowledge of complex mental things e. g. of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it.

ऋजुमति और विपूलमति, मनः पर्यवेक्षण है।

पर मनोगत रूप पदार्थ को जो ज्ञान प्रकाशादि बाह्य अवलम्बन के बिना जाना जाता है उसे मनः पर्ययज्ञान कहते हैं। इसके 2 भेद हैं। (1) क्रजुमति मनः पर्ययज्ञान (2) विपुलमति मनः पर्ययज्ञान। क्रजु का अर्थ है---सरल, सीधा। विपुल का अर्थ है---कठिल।

**१. क्रजुमति मनः पर्यवज्ञान** — दूसरे के मनगत सरल वचन, काय और मनकृत अर्थ को जो मनः पर्यवज्ञान जानता है उसे क्रजुमति मनः पर्यवज्ञान कहते हैं। अथवा वर्तमान मनगत विषय को जो जानता है। उसे क्रजुमति मनः पर्यवज्ञान कहते हैं।

2. विपुलमति मनः पर्यज्ञान---दूसरे के मनगत त्रिकालवर्ती वचन, काय और मनकृत अर्थ विषय को जानता या कुटिल गत विषय को जानता है उसे विपुलमति मनः पर्यज्ञान कहते हैं। तत्त्वार्थ सार में अमृतचंद्र सुरि ने कहा भी है---

परकीयमनः

स्वार्थज्ञानमन्यानपेक्षया ।

स्यान्मनः पर्ययो भेदौ तस्यजुविपुले मती।(28) पा अस्तित्वा

अन्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना मनः पर्ययज्ञान है। इसके क्रजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद हैं।

गोम्मटुसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा---

## ‘मनः पर्यवज्ञान का स्वरूप’

चिंतियमचिंतियं वा, अधृतं चिंतियमात्रं भेदयात् ।

मणपञ्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए।(438) (प. 208)

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तवन किया जावेगा।

अथवा अर्धचिन्ति-वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा हैं, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञान को मनः पर्यज्ञान कहते हैं। यह मनः पर्यज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न है बाहर नहीं।

**मनः पर्यय के भेद---**

मणपञ्जवं च दुविहं, उजुविउलमदि त्ति उजुमदी तिविहा ।

उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया त्ति णियमेण ।(439)

सामान्य की अपेक्षा मनः पर्यय एक प्रकार का है विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है---एक क्रजुमति दुसरा विपुलमति । क्रजुमति के भी तीन भेद हैं---क्रजुमनोगतार्थ विषयक, क्रजुवचनगतार्थ विषयक, क्रजुकायगतार्थ विषयक । परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन, वचन, काय के द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को क्रजुमति ज्ञान कहते हैं। अतएव सरल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुये पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा क्रजुमति के पूर्वोक्त तीन भेद हैं।

विउलमदीवि य छद्वा, उजुगाणुजुवयकायचित्तगयं ।

अत्थं जाणदि जम्हा, सहत्थगया हु ताणत्था ।(440)

विपुलमति के छह भेद हैं---क्रजु, मन, वचन, काय के द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद । क्रजुमति तथा विपुलमति मनः पर्यय के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं।

कोई आकर पूछें तो उसके मन की बात मनः पर्यय ज्ञानी जान सकता है। कदाचित् कोई न पूछे मौनपूर्वक स्थित हो तो भी उसके मनःस्थ विषय को वह जान सकता है।

तियकालविषयरूपिं, चिंतियं वट्टमाणजीवेण ।

उजुमदिणाणं जाणदि, भूदभविस्सं च विउलमदी ।(441)

वर्तमान जीव के द्वारा चिन्तयमान---वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकालविषयक रूपी पदार्थ को क्रजुमति मनः पर्यज्ञान जानता है और विपुलमतिज्ञान भूत भविष्यत् को भी जानता है।

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्य में चिंतवन किया जायेगा अथवा वर्तमान में जिसका चिन्तन हो रहा है, ऐसे तीनों ही प्रकार के पदार्थ को विपुल मति मनः पर्यज्ञान जानता है।

सव्वंगअंगसंभवचिणहादुप्पज्जदे जहा ओही ।

मणपञ्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ।(442)

जिस प्रकार अवधिज्ञान समस्त अंग से अथवा शरीर में होने वाले शंखादि शुभ चिन्हों से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह मनः पर्यज्ञान जहाँ पर द्रव्यमन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है।

जहाँ पर द्रव्यमन होता है उस स्थान पर जो आत्मा के प्रदेश हैं वहाँ से मनः पर्यज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से होता है और गुण प्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिन्हों के स्थान से ही होता है। साथ ही इन चिन्हों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा अवधि और मनः पर्यज्ञान में अंतर है।

हिदि होदि हु दब्बमणं, वियसियअडुच्छदारविंदं वा।

अंगोखगुदयादो, मणवगगणखंधदो णियमा ।(443)

द्रव्यमन का स्थान और आकार---अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों द्वारा हृदय स्थान में नियत से विकसित आठ पांखड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियं ति सण्णा, तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।

वत्तताभावादो, मणमणपञ्जं च तथ हवे ।(444)

इस द्रव्यमान की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के निमित्त से भावमन तथा मनः पर्यज्ञान उत्पन्न होता है।

मनः पर्यज्ञान का स्वामी

मणपञ्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइहीणं।

एगादिजुदेसु हवे वहृतविसिङ्गचरणेसु ।(445)

प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान वाले के, इस पर भी सात क्रदियों में से कम से कम किसी भी एक क्रदिं को धारण करने वाले के, क्रदिं प्राप्त में भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्र को धारण करने वाले के ही यह मनः पर्यज्ञान उत्पन्न होता है।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खितु उजुमदि होदि।

णिखेक्खिय वित्तलमदी, ओहिं वा होदि णियमेव ।(446)

अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग, काययोग, वचनयोग की अपेक्षा से क्रजुमति मनः पर्यज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वर्तमान में विचार प्राप्त स्पर्शनादि के विषयों को क्रजुमति जानता है। किन्तु विपुलमति अवधि की तरह इनकी अपेक्षा के बिना ही नियम से होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।

सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु ।(447)

ऋजुमति प्रतिपाती हैं, क्योंकि ऋजुमति वाला उपशमन तथा क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है। उसमें यद्यपि क्षपक की अपेक्षा ऋजुमति वाले का पतन नहीं होता, तथापि उपशम श्रेणि की अपेक्षा चाहिए मोहनीय कर्म का उद्रेक हो आने के कारण कदाचित् उसका पतन भी सम्भव है। विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है। तथा ऋजुमति शुद्ध है और विपुलमति इससे भी शुद्धतम होता है अर्थात् दोनों में विपुलमति की विशुद्धि प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम विशेष के कारण अधिक हैं।

परमणसि - टिठ्यमट्टुं, ईहामदिणा उजुटिथ्यं लहियै।

पच्छा पच्चक्खेण य, ऊजुमदिणा जाणदे णियमा।(448)

ऋजुमति वाला दूसरे के मन से सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहामतिज्ञान के द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

चिंतियमचिंतियं वा, अद्वं चिंतियमणेय भेय गयं।

ओहिं वा विउलमदी, लहिङ्कण विजाणए पच्छा।(449)

चिन्तित, अचिन्तित, अर्द्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदों को प्राप्त दूसरे के मनोगत पदार्थ को अवधि की तरह विपुलमति प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

दब्वं खेत्तं कालं, भाव पडिजीवलक्षित्यं रूवि।

उजुलविउमदीं जाणदि, अवखरंमज्जिमं च तहा।(450)

द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव में से किसी की भी अपेक्षा से जीव के द्वारा चिंतित रूपी (पुद्रल) द्रव्य को तथा उसक सम्बन्ध से जीवद्रव्य को भी ऋजुमति और विपुलमति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन-तीन प्रकार जानते हैं।

## केवलज्ञान

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।(29) स्वः सू. अ. 1

(The subject matter) of perfect knowledge (is) all the substances (and all their) modifications.

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि अनन्त गुण हैं। परन्तु जैसे-घने बादल के कारण सूर्य उदित रहते हुए भी सूर्य की रश्मि छिप जाती है। उसी प्रकार कर्मरूपी घने बादल के कारण ज्ञान रश्मि तिरोहित हो जाती है, जिससे जीव अल्पज्ञ हो जाता है। परन्तु जैसे जितने-जितने अंश में बादल हटता जाता है उतने-उतने अंश में सूर्य रश्मि प्रकट होती जाती है उसी प्रकार जितने-जितने अंश में ज्ञानावरणीय कर्मरूपी बादल हटता जाता है उतने-उतने अंश में ज्ञानरूपी सूर्य रश्मि प्रगाट होती जाती है। जैसे-सम्पूर्ण

बादल सूर्य के सामने हट जाता है तब सूर्य रश्मि पूर्णरूप से प्रगट हो जाता है उसी तरह सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म हट जाता है तब सम्पूर्ण ज्ञान रश्मि प्रगट हो जाती है। इसे ही केवल ज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त लोक अलोक को प्रकाशित करता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थ सिद्धिउपाय में कहा है—

**तज्यति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।**

**दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥(1)**

जिसमें संपूर्ण अनंतपर्यायों से सहित समस्त पदार्थों की माला अर्थात् समूह दर्पण के तल भाग के समान झलकती है, वह उत्कृष्ट ज्योति अर्थात् केवलज्ञान रूपी प्रकाश जयवंत हो।

**संपुण्णं तु समग्नं, केवलमसवत्तं स्वभावगयं।**

**लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदब्बं॥(460) (गो.. जी. 214)**

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थ मत और यह ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला हैं और लोकालोक के विषय में आवरण रहित हैं। तथा जीव द्रव्य के जितने अंश है वे यहां पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गए है, इसलिए उसको (केवलज्ञान को) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति युक्त है, और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए केवल कहते हैं। चारों धातिकर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रमकरण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिए उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

**असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्**  
**घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्॥ (30) (त. सा. पृ. 15)**

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्म-स्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

### तीन प्रकार की चेतना

**परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।**

**सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥(123)**

प्र. सा.

The Soul develops into (or with) sentiency which, in turn, is said to be of three kinds, say with regard to knowledge, karma and the fruit of karma.

आगे कहते हैं कि जिस परिणाम से आत्मा परिणमन करता हैं, वह परिणाम क्या है—(आदा)

आत्मा (चेदणाए) चेतना के स्वभाव रूप से (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा

अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई हैं। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञान के सम्बन्ध में (कम्मे) कर्म या कार्य के सम्बन्ध में (वा कम्मणो फलमि) तथा कर्मों के फल में (भणिदा) कही गई है। हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्मा का शुद्ध-अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोड़ता है वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति में वर्तन करती है। तब उसको चेतना ज्ञान कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्म के करने में उपयुक्त है तब उस कर्म चेतना और जब वह कर्मों के फल की तरह परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती हैं।

इस गाथा से आचार्य श्री जीवन का जो असाधारण भाव चेतना है उसका विशेष रूप से भेद पुरस्पर वर्णन कर रहे हैं। इसके पहले भी जीव की सिद्धि तथा उसके स्वरूप का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यहाँ से पुनः चेतना गुण को विशेष गुण इसलिये कह रहे हैं कि चेतना ही जीव का असाधारण भाव है। इसके कारण ही यह अन्य द्रव्यों से पृथक होता है इस गुण के कारण ही जीव संसार अवस्था में सुख-दुख का वेदन करता है और मोक्ष अवस्था में सुख का वेदन करता है। इस गुण के कारण ही जीव अन्य समस्त द्रव्यों से श्रेष्ठ है, पूजनीय है। इसलिये इसका विशेष कथन यहाँ से प्रारम्भ कर रहे हैं। पंचाध्यायी में भी कहा है—

**जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।**

**तत्सिद्धंलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये॥(191)**

पहले जीव की सिद्धि कह चुके हैं, इसलिए प्रसिद्ध है उसी को पुनः साध्य बनाते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं। जीव के ठीक-ठीक स्वरूप की प्राप्ति हो जाये, इसलिये उसका सिद्ध (प्रसिद्ध) लक्षण कहते हैं।

**स्वरूपं चेतना जन्तोः सामान्यात्सदेकधा-**

**सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह॥(192)**

जीव का स्वरूप चेतना है, वह चेतना सामान्य रीति से एक प्रकार है क्योंकि सामान्य रीति से सत्ता एक ही प्रकार है। तथा सत् विशेष की अपेक्षा से वह चेतना दो प्रकार है। परन्तु उसके दोनों भेद क्रम से होते हैं एक साथ नहीं होते हैं।

**एका स्याचेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।**

**शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा॥(193)**

एक शुद्ध चेतना और दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्मा का निज रूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्म के निमित्त से होती है।

**एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः।**

**शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ञानत्वाज्ञान चेतना॥(194)**

शुद्ध चेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतना में शुद्धता की उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

**अशुद्धा चेतना द्रेधा तद्यथा कर्म चेतना।**

**चेतनात्वात्कलस्यास्य स्यात्कर्मफलं चेतना ॥(195)**

अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतना में फल भोगने की मुख्यता है।

**सामान्यतः** जीव की जो अनुभूति, अनुभव, उपलब्धि, वेदना की शक्ति है उसे चेतना कहते हैं। यह चेतना कर्म से युक्त एवं कर्म से रहित होने के कारण विभिन्न रूप परिणमन कर लेती है। जिस प्रकार आकाश एक होते हुए भी लोकाकाश, अलोकाकाश, घटाकाश, पटाकाश आदि रूप में बाह्य निमित्त के कारण भेद पड़ जाता है उसी प्रकार चेतना भी अनेक रूप में परिणमन करती है। परन्तु यहाँ मुख्यतः चेतना के तीन भेद किये गये हैं। (1) ज्ञान चेतना (2) कर्म चेतना (3) कर्मफल चेतना। मुख्य रूप से सिद्ध भगवान् शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण स्थावरजीव अर्थात् पृथ्वीकायिक, जल कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक जीव कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। द्वीन्द्रीयादि त्रस जीव कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है—

**कम्माणं फलमेको एको कर्जं तुं पाणमधं एको।**

**चेदयदि जीवरासी चेदगमावेण तिविहेण ॥(38) पृ.135**

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है, और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा सुख-दुःख स्वरूप 'कर्मफल' को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यान्तराय से कार्य करने का (कर्म चेतना रूप परिणित होने का) सामर्थ्य नष्ट हो गया है।

अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा भले ही सुख-दुःख रूप कर्म फल के अनुभव से मिश्रित रूप से भी-'कार्य' (कर्म चेतना) को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने अल्प वीर्यान्तराय के क्षयोपशराम से कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

अन्य चेतयिता, अर्थात् आत्मा जो, समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य को प्राप्त हैं, सकल मोहकलंक धूल जाने के तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित हो जाने से चेतक स्वभाव द्वारा, कर्मफल निर्जरित हो जाने के और अन्यन्त कृतकृत्यपना हो जाने के कारण अपने से अभिन्न स्वभाविक सुखरूप ज्ञान को ही चेतते (अनुभव करते) हैं।

निर्मल शुद्ध आत्मा की अनुभूति को न पाकर अशुद्ध भावों से बांधा जो गाढ़ मोहनीय कर्म उसके उदय से प्राप्त जो अत्यन्त मलीन चेतना उसी से जिनमें आत्मा की शक्ति ढक रही है ऐसा एक जीव

समुदाय कर्मों के फलों को ही अनुभव करता है। दूसरी एक जीव राशि उसी ही मलीन चेतना से कुछ शक्ति को पाकर इच्छापूर्वक इष्ट या अनिष्ट के भेदरूप कर्म या कार्य का अनुभव करती है तथा एक जीव समुदाय विशुद्ध शुद्धात्मा की अनुभूति रूप भावना से कर्मकलंक को नाश करते हुए अपने शुद्ध चेतना के भाव से केवलज्ञान का अनुभव करता है। इस तरह यह चेतना तीन प्रकार की हैं—(1) कर्मफल चेतना (2) कर्म चेतना (3) ज्ञान चेतना।

**सर्वे खलु कर्मफलं थावरकाया, तसा हि कर्जजुदं।**

**पाणित्तमदिक्कतां णाणं विन्दन्ति ते जीवाः॥(39)**

(सर्वे स्थावरकायाः) सर्व स्थावर जीव समूह (खलु) वास्तव में (कर्मफलं) कर्मफल को वेदते हैं, (त्रसा) त्रस (हि) वास्तव में (कार्ययुतम्) कार्य (कर्म चेतना) सहित कर्मफल को वेदते हैं और (प्राणित्व मतिक्रान्ताः) जो प्राणित्व का (प्राण का) अतिक्रम कर गये हैं (ते जीवाः) वे जीव ज्ञान को (विन्दन्ति) वेदते हैं।

चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है-ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्म फल को चेतते हैं, त्रस कार्य (कर्म चेतना) को चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

सर्व ही प्रसिद्ध पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रगट सुख-दुःख का अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल को अनुभव करते हैं और द्वीन्द्रियादि त्रस जीव निर्विकार पर आनन्दमयी एक स्वभावधारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्म फल को भी अनुभव करते हैं साथ में विशेष रागद्वेष रूप कार्य की चेतना भी रखते हैं तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभव की भावना से उत्पन्न जो परमानन्दमयी एक सुखामृतरूप समरसी भाव उसके बल से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वोसोच्छ्वास, इन दश प्राणों का उल्लंघन कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञान को अनुभव करते हैं।

स्थावरकाय जीव की चेतना शक्ति अल्प विकसित होने के कारण, वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कम होने के कारण शक्ति की कमी होने से, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्रोदय होने के कारण ज्ञान कम होने से तथा केवल स्पर्शन इन्द्रिय होने से वे पूर्वोपार्जित कर्म को केवल विवश होकर भोगने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए स्थावर जीव बाह्य सुख-दुःख से, प्रतिकूल वातवरण से स्वयं को बचाने के लिए अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए इनमें केवल पूर्वोपार्जित कर्म को भोगने रूप प्रधानतः (मुख्यतः) कर्मफल चेतना है। अमृतचन्द सूरी ने पंचास्तिकाय की 38 नम्बर गाथा की टीका में जो स्थावर जीवों के लिये 'सुख-दुःख रूप कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयंते' यह विशेषण दिया है। वह विचारणीय है। भले स्थावर जीव शक्ति की कमी से सुख-दुःख को विवश होकर भोगता है तथापि कुछ प्रतिक्रिया भी करता है। जैसे-जिधर पानी होता है उधर वृक्ष की जड़ फैलती है, जिधर प्रकाश होता है, उधर वृक्ष की शाखायें बढ़ती हैं। लाजवन्ती को छुने पर लाजवन्ती मरड़ा जाती हैं। योग्य जलवायु से वृक्ष पल्लवित होता है

और विपरीत वातावरण से वृक्ष मुरझा जाता है। मौलश्री वृक्ष सुन्दर स्त्री को देखकर काम चेतना से युक्त हो जाता है। अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि यदि कोई वृक्ष को मारने के लिए जाता है तो वह भयभीत हो जाता है, पत्ते कान्ति रहित हो मुरझाने लगते हैं और कोई पानी देने जाता है तो वृक्ष प्रसन्न हो जाते हैं। संगीत सुनने से वृक्ष अधिक पुष्पफलादि देते हैं और प्रदूषित वातावरण में वृक्ष कम विकसित होते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावर जीवों में भी कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं। इसलिए स्थावर जीव में मुख्यतः कर्मफल चेतना होते हुए भी गौण रूप से कर्मचेतना भी है।

त्रस जीवों के वीर्यन्तराय कर्म के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ शक्ति अधिक होने से इनके कर्मफल चेतना के साथ-साथ कर्मचेतना भी पायी जाती है।

इसलिए त्रस जीव से स्थावरजीव की अपेक्षा कुछ सक्रियता अधिक है। त्रस नामकर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणी के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीवों से इनमें कुछ अधिक ज्ञान रहता है। आत्म रक्षा के लिए इधर-उधर भाग सकते हैं इसलिए से कर्मफल चेतना (अनुभव) के साथ-साथ केवल कर्म चेतना से भी युक्त होते हैं।

जिन्होंने समस्त वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से अनतंवीर्य को प्राप्त कर लिया है तथा समस्त ज्ञानावरणी आदि धातिकर्म एवं अधातिकर्म के क्षय से सिद्ध परमात्मा बन गये हैं ऐसे जीव ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

पंचास्तिकाय की 39 नं. गाथा में जो ‘पाणित्तमदिकंता णाणं विदंति ते जीवा’ का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा है ‘दशविध प्रणात्व मतिक्रान्तः सिद्ध जीवास्ते केवलज्ञान विदंति’ अर्थात् जो पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वोसोच्छवास प्राण को अतिक्रान्त कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा केवलज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्वाथा।

अस्ति पंचेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥(294) प्र 348

जितना-जितना आवरण हटता है उतना-उतना ज्ञान प्रकट होता है यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु इतना होने पर भी वस्तु ज्ञान नहीं होता, आत्मा के परिणाम जिस तरफ उन्मुख क्रज्जु होते हैं उसी का ज्ञान होता है इसी का नाम उपयोग है। इस उपयोग की विवक्षा में पंचन्द्रिय नाम कर्म और मानस कर्म ये दोनों हेतु हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध हो सकता है कि भले शुद्ध ज्ञानचेतना सिद्ध अवस्था में हैं परन्तु सम्यक् दर्शन होने के बाद ज्ञान चेतना प्रारम्भ हो जाती है और यह चेतना उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर होते होते सिद्ध अवस्था में परम विशुद्ध हो जाती है। जिस प्रकार सम्यक् दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्ध अवस्था तक हैं, सिद्ध अवस्था में केवली के सम्यक् दर्शन परमविशुद्ध हैं जिसको परमावगाढ़ सम्यक्-दर्शन कहते हैं परन्तु यह सम्यक्-दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप से प्रारम्भ हो जाता है। यह विषय अगली 124 नं. गाथा से भी कछ स्पष्ट हो जाता है यथा ‘ज्ञाणं अङ्गविद्यपं’ मत्यादि

भेदेनाष्ट विकल्पं भवति' ज्ञानमति आदि के भेद से आठ प्रकार का है इसको पाठान्तर में कहा गया कि पदार्थों को जानने में जो विकल्प है वह ज्ञान ज्ञान-चेतना है स्वयं आचार्य श्री उपर्युक्त विषय आगे स्पष्ट करने वाले हैं। इसलिये यहाँ विशेष वर्णन नहीं कर रहे।

तीनों चेतना का लक्षण एवं फल  
 णाणं अद्विविष्यप्पो कर्मं जीवेण जं समारद्धं।  
 तमणेगविदं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा॥(124)

Knowledge is the comprehension of the objectivity (exactly as it is): Whatever is done by the soul is karma, which is of many kinds; the fruit of karma is either happiness or misery.

आगे चेतना के तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना के स्वरूप का विशेष विचार करते हैं—

(णाणं अद्विविष्यप्पं) ज्ञानमति आदि के भेद से आठ प्रकार का है। अथवा अद्विविष्यप्पो पदार्थों के जानने में समर्थ जो विकल्प हैं (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञान चेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कर्मं) जीव के द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेगविदं भणिदं) वह अनेक प्रकार का कहा गया है—इस कर्म की चेतना सो कर्म चेतना है (वा सुखं व दुःखं फलति) तथा सुख या दुःख रूप फल में चेतना सो कर्मफल चेतना है।

ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते हैं—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकार को झलकाने वाले दर्पण के समान स्वपर पदार्थों को जानने में समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादरूप में परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुदगलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं।

इसी अर्थ विकल्प को ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीव ने अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्म चेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई है सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं इसको अनुभव करना सो कर्म फल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नारक आदि का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है इसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्ध निश्चय नय से सुख कहते हैं तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्ध निश्चय नय से दुःख ही है और जो रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करना वाला परमानंदमई एक रूप सुखामृत का स्वाद है। इस तरह ज्ञान चेतना कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का स्वरूप जानना चाहिए।

इस गाथा में आचार्य श्री ने तीनों चेतना की परिभाषा दी है। पूर्व गाथा में सामान्य रूप से चेतना

का वर्णन किया था। मति ज्ञानादि आठ प्रकार के ज्ञान या पदार्थ को जानने में जो विकल्प रूप ज्ञान है उसको ज्ञान चेतना कहते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से भेद विज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं। बुद्धि पूर्वक मन, वचन, काय से जो जीव करता है उसे कर्म या कर्म चेतना कहते हैं। यह कर्म चेतना अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की है। अशुभ भाव सहित जो उपयोग है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभ भाव से युक्त शुभोपयोग है और शुद्ध भाव से युक्त शुभोपयोग है। पूर्वोपर्जित पुण्य या पाप के कारण जो सुख तथा दुःख प्राप्त होता है उसका अनुभव करना कर्म फल चेतना है। अशुभोपयोग से केवल दुःख ही दुःख मिलता है और शुभोपयोग से इन्द्रिय जनित सांसारिक सुख मिलता है तथा पि आध्यात्मिक दृष्टि से यह इन्द्रिय जनित सुख दुःख स्वरूप हैं क्योंकि यह इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय से प्राप्त होने के कारण, भोग करते वक्त आसक्ति व अतृप्ति के कारण, नवीन कर्म बंध के कारण होने से इन्द्रिय जनित सुख दुःख रूप ही हैं। पंचाध्यायी में कहा भी है—

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम्॥(244) अध्याय-2

शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिसको वह सुख समझता है वह सुख नहीं है। वास्तव में सुख वही है जहाँ पर कभी थोड़ा भी दुःख नहीं है, वही धर्म है जहाँ पर अधर्म का लेश नहीं है और वही शुभ है जहाँ पर अशुभ नहीं है।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम्।

व्युच्छिन्नं बंधहेतुश्च विषमं दुःखमर्यतः॥(245) पृ.334

यह इन्द्रियों से होने वाला सुख पराधीन है, कर्म के परतन्त्र है, बाधापूर्वक है, इसमें अनेक विघ्न आते हैं, बीच-बीच में इसमें दुःख होता जाता है, यह दुःख बंध का कारण है तथा विषम है। वास्तव में इन्द्रियों से होने वाला सुख दुःख रूप ही है।

तीनों चेतना आत्म स्वरूप है—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्फलभावी।

तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदब्वो॥(125)

The nature of the soul is development : this development is with reference to knowledge, karma and the fruit, therefore, it should be understood that knowledge, karma and the fruit constitute the soul.

आगे कहते हैं कि यह आत्मा ही अभेद नय से ज्ञान चेतना, कर्मचेतना, तथा कर्मफल चेतनारूप हो जाता है।

(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम-स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्फल भावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफल रूप हो जाता है। (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्मं च फलं) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफल रूप (मुणेदब्वो) जानना चाहिए।

आत्मा परिणमनस्वभाव है, यह बात तो पहले ही 'परिणामो सयमादा' इस गाथा में कही जा

चुकी हैं। उसी परिणमन स्वभाव में यह शक्ति है कि आत्मा का भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्म चेतनारूप व कर्मफलचेतनारूप हो जावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतनारूप अभेद नये से आत्मा को ही जानना चाहिए। इस कथन से यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतना के परिणामों से परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध परिणमन से मोत्र का साधन करता है। तथा शुभ और अशुभ परिणामों से बंध को साधता है।

जिस प्रकार इक्षु रस ही परिणमन करता हुआ गुड़, शकर, मिश्री आदि में परिणमन करता है। उसी प्रकार आत्मा में जो परिणमन शक्ति है उससे ज्ञान चेतना, कर्मचेतना और कर्मफल रूप चेतना में परिणमन कर लेता है। यदि आत्मा स्वयं शक्ति के कारण तीनों चेतनारूप परिणमन नहीं करता तो बाह्य निमित्तादि के कारण भी तीन प्रकार की चेतना नहीं होती। क्योंकि चेतनमय आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में चेतयिता गुण नहीं है। भले कर्मचेतना, कर्मफलचेतना के लिए कर्मोदय की आवश्यकता है तथापि चेतना के बिना कर्म चेतना और कर्मफल चेतना नहीं हो सकती थी। जिस प्रकार अग्नि, हथौड़ी, कुम्हारादि बाह्य निमित्त के द्वारा लोहा, कील, सब्बल, रेल की पटरी परिणमन करती हैं उसी प्रकार आत्मा ही तीनों चेतना रूप में परिणमन करता है। पंचाध्यायी में कहा भी है—

अद्वैतेषि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।

यथोपलक्षितो जीवः सर्थनामास्ति नान्यथा ॥(942) (पण्डिताध्यायी पृ. 527)

यद्यपि चेतना एक है तथापि आगम के अनुसार उस चेतना के तीन भेद हैं उस चेतना से विशिष्ट जीव ही यथार्थ नामधारी कहलाता है अन्यथा नहीं।

प्रकारान्तर से इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि प्रत्येक जीव में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा है अर्थात् आत्मा ही तीनों रूप में परिणमन करता है। बहिरात्मा एकान्ततः हेय एवं त्यजनीय है। परमात्मा एकान्ततः उपादेय एवं ग्रहणीय है। अन्तरात्मा प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय है, क्योंकि अन्तरात्मा के माध्यम से बहिरात्मा को त्यागकर परमात्मा को प्राप्त किया जाता है, परन्तु जब परम अवस्था प्राप्त हो जाती है तब अन्तरात्मपना स्वयं छुट जाता है इसलिये यह प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय होते हुये भी सर्वथा ग्रहणीय नहीं है। यथा—

बहिरन्तः परक्षेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपयात्तत्र परमं मध्योपायाद्विहस्त्यजेत् ॥(4) समाधितंत्र पृ. 9

समस्त शरीरधारी जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से चेतन आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार का है उनमें से अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए और बहिरात्मा का त्याग कर देना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ॥(5) पृ. 12

शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, पशु, मकान आदि अन्य पदार्थों में जिसे अपने आत्मा का या अपनेपन का भ्रम होता है वह बहिरात्मा जीव है। जिसको चित्त, रागद्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानि जो उन्हें पृथक्-पृथक् ठीक तरह जानता है, वह अंतरात्मा है। जो मिथ्यात्व अज्ञान और राग आदि दोषों से सर्वथा छूटकर अत्यन्त निर्मल हो गया है, वह (परमात्मा) है।

## कुशीक्षा-शिक्षार्थी एवं शिक्षक

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अपवित्र विचार वाला दुर्जन विद्या को प्राप्त करके वाद-विवाद कलह करता है, धन को प्राप्त करके, भोग-राग, दिखावा, अंहकार में मस्त हो जाता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को सताता है। पवित्र विचार वाला सज्जन विपरीत विद्या से स्वपर के अज्ञान रूपी अंहकार को दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश को प्रकाशित करता है, धन प्राप्त करके योग्य क्षेत्र में योग्य व्यक्ति में दान देता है तथा शक्ति से दूसरों की रक्षा करता है।

वस्तु का सदुपयोग या दुरुपयोग उसको प्रयोग करने की भावना एवं पद्धति पर निर्भर करता है। जिस प्रकार सुरक्षित रूप से अग्नि का प्रयोग करके भोजन बनाना, गाड़ी चलाना, कारखाना चलाना सदुपयोग है तो उसके द्वारा स्वयं को दूसरों को और उपयोगी चीजों को जलाना दुरुपयोग है। इसी प्रकार ज्ञान विद्या का शिक्षा का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी होता है। जो विद्यार्थी शिक्षा का एवं गुरु का दुरुपयोग करता है वह अयोग्य विद्यार्थी या कुशिष्य है जो शिक्षक शिक्षा का एवं विद्यार्थियों का दुरुपयोग करता है वह कुशिक्षक या कुगुरु है। जिस शिक्षा से शिक्षार्थी शिक्षक एवं दूसरों पर कुप्रभाव पड़ता है उसे कुशिक्षा कहते हैं। जिस प्रकार कुम्हार योग्य मिट्ठी से योग्य पद्धति से अच्छे-अच्छे पात्र बनाता है वर्तन बनाता है उसी प्रकार योग्य शिष्य को योग्य गुरु योग्य शिक्षा से योग्य विद्यार्थी बनाता है अयोग्य मिट्ठी को योग्य कुम्हार भी स्वयोग्यता से योग्य वर्तन, पात्र नहीं बना सकता है।

इसी प्रकार अयोग्य शिष्य को योग्य गुरु भी योग्य विद्यार्थी नहीं बना सकता है इतना ही नहीं, अच्छी मिट्ठी भी है और अच्छा कुम्हार भी है और योग्य पद्धतिं नहीं हैं तो भी योग्य पात्र नहीं बनेंगे। इसलिये चाणक्य ने कहा है — जिस प्रकार अंधा दर्पण के माध्यम से भी अपना मुंह नहीं देख पाता है, अंगार को दूध से सौ बार धोने पर भी वह सफेद नहीं हो जाता है, कौआ को कितना भी पढ़ाने पर भी वह कोयल ओर तोते के समान नहीं बोल पाता है उसी प्रकार अत्यन्त अयोग्य विद्यार्थी को कितना भी पढ़ाने पर वह योग्य शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये कहा है —

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।

पयः पानं हि भुजडानां केवलं विषवर्धनम्॥(420) (पंचतन्त्र पृ. 175)

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, न कि शान्ति के लिये। जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है। अतएव कहा है — ('उपदेशो न दातव्यो यादशो तादशो जन)।' जैसे-तैसे व्यक्ति को उपदेश नहीं देना चाहिये। इसलिये ज्ञानदान

सतपात्र, योग्य पात्र, योग्य शिष्य, योग्य विद्यार्थी को ही देना चाहिये। तब उपदेश कार्यकारी होता है। कहा है —

सतगुरु देय जगाय, मोहनीन्द जब उपशमै।  
तब कछु बने उपाय, कर्म चोर आवत रुकै॥

इसी प्रकार योग्य विद्यार्थी के लिये योग्य शिक्षक चाहिये। जिस प्रकार योग्य मिट्ठी कुशल कुम्हार के बिना योग्य पात्र के रूप में नहीं बन सकती है। अच्छी शिला भी योग्य शिल्पी के बिना योग्य मूर्ति के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती है। योग्य शिष्य और योग्य विद्यार्थी होते हुए भी योग्य शिक्षा पद्धति नहीं है तो भी शिक्षा का लाभ विशेष नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार अच्छे घोड़े-हाथी को भी अच्छा प्रशिक्षण न मिलने पर वे योग्य कार्य नहीं कर पाते हैं। अथवा जिस प्रकार खदान का मल से युक्त हीरा को योग्य पद्धति से योग्य रीति से नहीं तराशा जाता है तब तक उसका मूल्य भी अधिक नहीं होता है।

पौष्टिक तत्व से भरपूर फलादि भी जब सङ् जाते हैं तो विषाक्त हो जाते हैं। तथा उसी फलादि के भक्षण से विभिन्न रोग भी हो जाते हैं और मृत्यु भी हो सकती है। इसी प्रकार जब शिक्षा और शिक्षक में या विद्यार्थी में विकार उत्पन्न होता है या दुरुपयोग किया जाता है तो उसका प्रतिफल भयावह होता है। जिस प्रकार रावण के पास विद्या, बुद्धि, सत्ता होते हुए भी उसने उसका दुरुपयोग किया जिससे स्वनाश के साथ-साथ लंका के नाश का भी कारण बना। जिस गुरु से, जिस वंश से, जिस देश से पाण्डवों का सम्बन्ध रहा कौरवों का भी उनसे रहा। तथापि पाण्डवों ने विद्यादि का सदुपयोग करके यश, राज्य तथा उत्तम गति को प्राप्त किया परन्तु कौरवों ने इसका दुरुपयोग करके अयश, मृत्यु तथा दुर्गति को प्राप्त किया। इसी प्रकार आसुरी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों में भी बुद्धि, विद्या, सत्ता होती है परन्तु उसका दुरुपयोग करके पर को कष्ट पहुँचाते हैं। आइस्टीन तथा उनके सहयोगी ने अणु अख का विष्कार जनकल्याण के लिये किया था परन्तु अमेरिका ने उसी को द्वितीय युद्ध के समय हिरोशिमा और नाकासाकी के ऊपर डालकर लाखों व्यक्ति एवं करोड़ों की सम्पत्ति को नष्ट कर डाला। प्राचीन विभिन्न साहित्यों के परिज्ञान से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अधिकांशतः अधिकांश व्यक्ति विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति सत्ता का दुरुपयोग ही करते हैं। ऊपर मैंने कुछ व्यक्ति का उदाहरण दिया था अब मैं राष्ट्रीय एवं कुछ जाति का उदाहरण देकर सिद्ध कर रहा हूँ कि शिक्षादि का दुरुपयोग किस प्रकार से करते हैं। अंग्रेजी जाति जब सुशिक्षित समृद्ध, शक्तिशाली थी तब कूटनीति से धर्म प्रचार के बहाने से या व्यापार फैलाने की दृष्टि से दूसरे देशों को अपना उपनिवेश बनाते थे, परतंत्र करते थे, शोषण करते थे। जिस प्रकार गोरी जाति वालों ने (गोरी चमड़ी वाले) काली जाति (काली चमड़ी वालों) का खूब शोषण किया उन्हें दास बनाया, उनको पराधीन किया, उनकी हत्या की। इसी प्रकार जब जो राज्य या राष्ट्र शिक्षादि में सम्पन्न रहा तब उसने दूसरों को लूटा, खसोटा, पराधीन किया इसलिये विवेकवान को शिक्षा का सदुपयोग एवं दुरुपयोग

दोनों को लक्ष्य में रखकर कार्य करना चाहिये। इस अध्याय में ज्ञान विपरीत क्यों होता है, विद्यार्थी शिक्षा का एवं गुरु का दुरुपयोग क्यों करता है तथा शिक्षक भी किस प्रकार शिक्षा का, शिष्य का दुरुपयोग करता है उसका सविस्तार वर्णन करके शिक्षा के दुष्प्रभाव से विश्व को सतर्क करना चाहता हूँ बचाना चाहता हूँ।

## मिथ्याज्ञान का स्वरूप

**सदसतोरविशेषाद्यच्छोपलब्धेऽन्मत्तवत् (32) (स्वतन्त्रता के सूत्र पृ. स. 102)**

From lack of discrimination of the real, and the unreal (the soul with wrong knowledge) like a lunatic, knows things according to his own whims.

वास्तविक और अवास्तविक के अन्तर के बिना 'यदृच्छोपलब्धि' (जब जैसा रूप आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान होता है उसे 'सम्यज्ञान' कहते हैं। ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान नहीं होता उसे 'मिथ्याज्ञान' कहते हैं। जब जीवों का श्रद्धान विपरीत होता है तब ज्ञान भी विपरीत हो जाता है। प्रकृत में 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है। इनकी विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करने से विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान है तो भी उन्हें अविद्यमान मानता है और कदाचित् विद्यमान वस्तु को भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत् को सत् और असत् को असत् ही मानता है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शन के उदय से होता है। जैसे पित्त के उदय से आकुलित बुद्धि वाला मनुष्य माता को भार्या और भार्या को माता मानता है। जब अपनी इच्छा की लहर के अनुसार माता को माता और भार्या को भार्या मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यज्ञान नहीं है। इसी प्रकार मत्यादिक का भी रूपादिक में विपर्यय जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है — इस आत्मा में स्थित कोई मिथ्यादर्शन रूप परिणाम रूपादिक की उपलब्धि होने पर भी कारण विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास को उत्पन्न करता रहता है।

**कारण विपर्यास** — यथा कोई मानते हैं कि रूपादिक का एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है। कोई मानते हैं कि पृथ्वी जाति के परमाणु अलग हैं और चार गुण वाले हैं। जल जाति के परमाणु अलग हैं जो तीन गुण वाले हैं। अग्नि जाति के परमाणु अलग हैं जो दो गुण वाले हैं और वायु जाति के परमाणु अलग हैं जो एक गुण वाले हैं तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्य ही उत्पन्न करते हैं। कोई कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूत हैं और इन भूतों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदाय को एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में क्रम से कठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और झैरणत्वादि गुण वाले अलग-अलग जाति के परमाणु होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं।

भेदाभेदविपर्यास — यथा कारण से कार्य का सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना।

स्वरूपविपर्यास — यथा रूपादिक निर्विकल्प है, या रूपादिक है ही नहीं, या रूपादिक के आकाररूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदय से जीव प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नाना प्रकार की कल्पनाएं करते हैं और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान या विभंग ज्ञान होता है। किन्तु सम्यादर्शन तत्वार्थ के ज्ञान में श्रद्धान उत्पन्न करता है। अतः इस प्रकार का ज्ञान मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है।

## तीन मिथ्या-ज्ञान

मतिश्रुतावध्यो विपर्यश्च। (31) स्वतन्त्रता के सूत्र (पृ. 100)

And sensitive, scriptural, visual (knowledge are also) Wrong (knowledge).

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय भी हैं। ज्ञान का कार्य जानना है। परन्तु जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है तब ज्ञान की शक्ति कुंठित हो जाती है, परन्तु विपरीत नहीं होती है। किन्तु मोहनीय कर्म के उदय से ज्ञान विपरीत रूप में परिणमन कर लेता है। अमृतचन्द्र सूरी ने कहा भी है —

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वं समवायिनः।

मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता। (35)

(तत्वार्थ सार पृ. 16)

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं तो मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और उस दशा में उनमें प्रमाणता नहीं मानी जाती।

मिच्छत्ता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा।

णेयं पदुच्च काले तह दुण्णय दुप्पमाणं च॥(6)

(पंचास्तिकाय प्राभृत) पृ. 147

द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान, अज्ञान रूप अर्थात्, कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञान रूप होता है तथा व्रत रहित भाव भी होता है। इस तरह तत्वार्थ श्रद्धानरूप भाव सम्यादर्शन व भाव संयम का आवरण रूप भाव होता है तैसे ही मिथ्यात्व के उदय से ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थों को आश्रय करके तत्व विचार के समय में सुनय दुर्नय हो जाता है व प्रमाण दुःप्रमाण हो जाता है।

अण्णाणतियं होदि हु, सण्णाणतियं खु मिच्छाअणउदये।

णवरि विभंगं णाणं पंचिदिय सण्णि पुण्णेव।

अज्ञानत्रिकं भवति खलु सदज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वनोदये।

नवति विभंगं ज्ञानं पंचेन्द्रिय संज्ञिपूर्ण एव॥(301)

आदि के तीन (मति, श्रुत, अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। ज्ञान के मिथ्या होने का अन्तरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय है। मिथ्या अवधि को विभंग भी कहते हैं। इसमें यह विशेषता है कि यह विभंगज्ञान संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय के ही होता है।

विसंजत्कूडपंजरबंधादिसु णिण्णुवएसकरणेण।

जा खलु पवट्टि मई, मइअण्णाणेति णं बेंति॥(303)

विषयन्त्रकुटपंजरबंधादिसु विनोपदेश करणेन।

या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति॥(303)

दूसरे के उपदेश के बिना ही विष यंत्र कूट पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं।

जिसके खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बन्द हो जाये और जिसके भीतर बकरी आदि को बाँधकर सिंह आदि को पकड़ा जाता है उसको यंत्र कहते हैं। जिससे चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं, उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गड्ढे आदि बनाये जाते हैं उनको बन्ध कहते हैं। इत्यादि पदार्थों में दूसरे के उपदेश के बिना जो बुद्धि प्रवृत होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेश पूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायेगा।

आभीयमासुरक्खं,—।

तुच्छा असाहणीया, सुय अण्णाणेति णं बेंति॥(304)

तुच्छा असाधनीया श्रुतज्ञानमिति इदं ब्रुवन्दि॥(304)

अर्थ — चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र, — परमार्थशून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्याश्रुतज्ञान कहते हैं।

‘आदि’ शब्द से सभी हिंसादि पाप कर्मों के विधायक तप असमीचीन तत्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को कुश्रुत और उनके ज्ञान को कुश्रुतज्ञान समझना चाहिये।

विवरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च।

विभंगो त्ति पउच्छूत, समत्तणाणी ण समयम्हि॥(305)

सर्वज्ञों के उपदिष्ट आगम में विपरित अवधिज्ञान को ‘विभंग’ कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं — एक क्षायोपशमिक, दूसरा भवप्रत्यय।

देव नारकियों के विपरीत अवधिज्ञान को भवप्रत्यय विभंग कहते हैं और मनुष्य तथा तिर्यचों के विपरीत अवधिज्ञान को क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं। इस विभंग का अतरंग करण मिथ्यात्व आदिक कर्म हैं। ‘विभंग’ शब्द का निरुक्तसिद्ध अर्थ यह है कि मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से अवधिज्ञान की विशिष्टता समीचीनता का भंग होकर उसमें अयथार्थता आ जाती है, इसलिए उसको ‘विभंग’

कहते हैं, इसको कर्म बीज इसलिए कहा है कि कर्मों के बन्ध का वह कारण है। परन्तु साथ ही 'च' शब्द का उच्चारण करके यह भी सूचित कर दिया गया है कि कदाचित् नरकादि गतियों में पूर्वभवों का ज्ञान कराकर वह सम्यक्त्व उत्पत्ति में भी निमित्त हो जाता है।

## ज्ञान का अंहकार एवं अज्ञानता का कारण

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।(13) स्वतन्त्रता के सूत्र, पृ. 571

**प्रज्ञा** conceit and; अज्ञान Lack of knowledge, sufferings are caused by the operation of ज्ञानावरणीय, knowledge-obscuring karmas.

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है, अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव में प्रज्ञा का सद्भाव है अतः क्षायोपशमिकी प्रज्ञा ज्ञानावरण के उदय में मद उत्पन्न करती हैं, सर्व ज्ञानावरणं कर्म का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों परिषहों की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है।

केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर केवल-ज्ञान होता है केवल-ज्ञान होने पर किसी भी प्रकार अहंकार नहीं होता है। जो अत्यंत अज्ञानी हैं, जैसे — एकेन्द्रिय आदि जीव, इनके विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होने से तथा तीव्र ज्ञानावरणीय का उदय होने पर विशेष ज्ञान न होने के कारण इनके भी प्रज्ञा और अज्ञान परिषह विशेष नहीं होती है। लोकोक्ति भी है। 'रित्त चना बाजे घना'

भर्तृहरि ने कहा भी है —

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।

ज्ञानत्यवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ।(13)

नीति शतक

नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता परन्तु जो न समझदार है, न ना समझ है, ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते। इसीलिये इंग्लिस में कहावत है —

जो अल्पज्ञ होते हैं वे भयंकर होते हैं। A half mind is always dangerous.

The little mind is proud of own condition.'

संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते हैं। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को इंकार करते हैं।

मूर्खों के निम्नलिखित पाँच चिन्ह हैं—।

मूर्खस्य	पंच	चिन्हानि	गर्वी	दुर्वचनी	तथा ।
हठी	चाप्रियवादी	च	परोक्तं	नैव	मन्यते ।

(1) अहंकारी होना (2) अपशब्द बोलना (3) हठग्राही (4) अप्रिय बोलना (5) दूसरों के द्वारा कहा हुआ हित सत्य नहीं मानना।

### विद्यार्थी-परिषद् लक्षण

(सा समासओं तिविहा पण्णता तं जहा — 1. जाणिया 2. अजाणिया 3. दुष्वियहृ)।

वह (परिषद्) संक्षेप से तीन प्रकार की कही गई है। यथा — 1. ज्ञायिका परिषद् = जिनमत, परमत और गुण-दोष की जानकार परिषद्। 2. अज्ञायिका परिषद् = जिनमत परमत और गुण दोष की अनजान परिषद्। 3. दुर्विदग्ध परिषद् = पण्डितमन्य परिषद्। जिस प्रकार कोई रोटी आधी कच्ची और आधी जली होती है तो अखाद्य होती है उसी प्रकार जिनमें कुछ तो ज्ञान की कमी होती है और कुछ विकृत ज्ञान होता है, तिस पर भी जो अपने आपको पूरा पण्डित मानते फिरते हैं, उन्हें 'दुर्विदग्ध' — पण्डितमन्य कहते हैं।

अब क्रमशः इन तीनों परिषदों के लक्षण बतलाते हैं।

### (1) ज्ञानी शिष्य-समूह —

खीरमिव जहा हंसा, जे घुट्टति इह गुरुगुणसमिन्द्रा।

दोसे य विवर्जन्ती, तं जाणसु जाणियं परिसं। (52) (नन्दीसूत्र)

पहली जानकार परिषद् के लक्षण इस प्रकार हैं — जिस प्रकार जातिवान श्रेष्ठ हंस, जल मिश्रित दूध में से, मात्र दूध ग्रहण करता है और जल को त्याग देता है, उसी प्रकार आचार्य आदि के प्रवचन तथा जीवनगत सदगुणों को जीवन में ग्रहण कर, गुण समृद्ध बनती है और दोषों का त्याग करती है, उसे 'जानकार परिषद्' समझना चाहिए।

जो जैन धर्म मान्य षड् द्रव्य, नव तत्व आदि के तथा परमत के जानकार हैं, जिनमत पर श्रद्धा रखते हैं, सदगुण और दुर्गुण के पारखी हैं, परन्तु दूसरों के मात्र सदगुणों की प्रशंसा करते हैं, और जीवन में उतारते हैं किन्तु दुर्गुणों की अनावश्यक, निरर्थक निन्दा नहीं करते, न जीवन में दुर्गुणों को स्थान देते हैं, वे जानकार परिषद् में आते हैं। ऐसे लोगों को समझाना अत्यन्त सुगम होता है। इन्हें 'पात्र परिषद्' के अन्तर्गत समझना चाहिए।

### (2) अज्ञानी शिष्य समूह —

जा होई पगइमहुरा, मियछावयसीहुकुकुडयभूआ।

रयणमिव असंठविया, अजाणिया सा भवे परिसा। (53)

दूसरी अनजान परिषद् के लक्षण इस प्रकार हैं — जो प्रकृति से मधुर हो = अन्यमति, नास्तिक या अनार्थ होकर भी स्वभाव से सरल एवं नग्र हो, मृग के बच्चे, सिंह के बच्चे, या कुकड़े के बच्चे के समान हों = जैन कुल के होकर भी जैनधर्म से अनजान हो, असंस्थापित = असंस्कृत अधित रत्न की भाँति जिसके गुण अब तक छुपे पड़े हों, वह 'अजानकार परिषद्' होती है।

1. चाहे व्यक्ति अन्यमत का या नास्तिक हो, पर यदि वह सरल अन्तःकरण वाला हो, नप्रे हो, सत्य मत के सामने आने पर अपने मत का आग्रह करने वाला नहीं हो, सत्य का समादर करने वाला हो, तो उसे समझाना सरल है। इसी प्रकार यदि कोई शिकारी, कसाई आदि अनार्थ, पापाचरण करने वाले हों, पर वे भी स्वभाव से सरल हों, तो उन्हें समझाना सरल है।
2. अथवा जो मुग के बच्चे के समान कभी बहक सकते हैं, परन्तु अब तक किसी के बहकावे में नहीं आये हैं, ऐसे जैनकुल के मन्दबुद्धि बच्चों को भी समझाना सरल है।
3. जो कुकड़े के बच्चे या सिंह के बच्चे के समान युद्ध-धर्मी और कुर बन सकते हैं, पर तब तक पापमति और पापाचारी नहीं बने हैं ऐसे अन्यमति के या नास्तिकों के या नीच जाति के बालकों को, बाल्यावस्था के रहते हुए अच्छे संस्कार देना सरल है।
4. अथवा जैसे अघटित रत्न में गुण छुपे रहते हैं और ज्यों ही उन्हें धर्षण और संस्कार मिलता है, उनके गुण प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस बालक में बुद्धि आदि छुपी पड़ी हैं, जिसे केवल थोड़े से शिक्षण और मार्गदर्शन की आवश्यकता है, वह मिलते ही जो जानकार बन सकता हो, उसे समझाना सरल है।
5. अथवा प्रौढ़ होकर भी जिन्हें जिनधर्म श्रवण का योग नहीं मिलने से जिनकी बुद्धि अभी तक सत्य प्राप्त नहीं कर सकी हैं, उन्हें भी समझाना सरल है।

ऐसे सभी प्राणी 'अजान परिषद्' के अन्तर्गत हैं। जानकार परिषद् की अपेक्षा इन्हें समझाने में विलम्ब और प्रयत्न लगता है, पर ये समझ जाते हैं। अतः ये भी पात्र परिषद् हैं।

### 3. पंडितमन्य-शिष्य-समूह

न य कत्थइ निम्माओ, न च पुच्छइ परिभवस्स दोसेण।

वत्थिव्व वायपुणो, फुट्टइ गामिल्लय रियहो॥(54)

तीसरी दुर्विदग्ध परिषद् के लक्षण इस प्रकार हैं —

जो न स्वयं किसी विषय या शास्त्र में विद्वत्ता रखते हैं, न परिभव दोष से किसी से कुछ पूछते हैं (हार या लघुता के भय से किसी विद्वान् से ज्ञान ग्रहण नहीं करते हैं) परन्तु जैसे वायु से भरी मसक, केवल वायु से फूली हुई होती है, उसमें प्रवाही या घन कोई पदार्थ नहीं होता, उसी प्रकार जो किसी ठोस ज्ञान के बिना ही, वायु के समान कुछ दो चार पद, गाथाएँ, युक्तियाँ, उदाहरण आदि को मुनकर अपने आपको महान-पण्डित मानकर फूले फिरते हैं, ऐसे ग्रामीण दुर्विदग्धों (= लाल बुज्जकड़ों) के झूण्ड को 'दुर्विदग्ध परिषद्' समझना चाहिए। ऐसे लोगों को यदि समझना प्रारम्भ किया जाये, तो ये लोग उपदेशक के ही आगे-आगे, शीघ्र-शीघ्र विषयपूर्ति करने का प्रयास करते हैं, और कहते हैं — 'बस। बस। यह विषय तो हम स्वयं भलीभाँति जानते हैं' ऐसे लोगों को समझाना कठिन है। ये लोग अपात्र परिषद् हैं।

## अयोग्य विद्यार्थियों के 14 दृष्टान्त

1. सेल-घण
2. कुडग
3. चालणि
4. परिपूणग
5. हंस
6. महिस
7. मेसेय
8. मसग
9. जलूग
10. बिराली
11. जाहग
12. गो
13. भेरी
14. अभीरी

1. मुद्राशैल और घन-मेघ, 2. कुट-घडा, 3. चालनी, 4. परिपूणक सुधरी नामक पक्षी का घोंसला, जिसमें धी छाना जाता था, 5. हंस 6. महिष-भैंसा, 7. मेष-मेढ़ा, 8. मशक-मच्छर 9. जलौका-विकृत रक्त चूसनेवाला एक जलचर जन्तु 10. बिल्ली 11. जाहक-सेलहक, छूहे की जाति का तिर्यक विशेष 12. गाय 13. भेरी और 14. अहीर।

जो 1. मुद्राशैल के समान अपरिणामी हो या 2. दुर्गन्धित घट की भाँति दुष्परिणामी हो, 3. चालनी के समान अग्राही हो या 4. परिपूणक के समान दोष-ग्राही हो, 5. भैंसे के समान अन्तराय करने वाला हो या, 6. मच्छर के समान असमाधि करने वाला हो, 7. बिल्ली के समान विनय नहीं करने वाला हो, या 8. गाय-असेवक ब्राह्मणों के समान वैयावृत्य नहीं करने वाला हो, 9. भेरी नाशक के समान भक्ति न करने वाला हो, या ज्ञान का प्रत्यनीक-शत्रु हो, और 10. स्वदोष नहीं देखने वाले अहीर की भाँति आशातना करने वाला, या ज्ञान का विसंवादी हो, वह ज्ञान का अपात्र है। उसे ज्ञान देना अयोग्य है।

जो 1 काली मिट्ठी की भाँति परिणामी हो, 2 सुगन्धित घट के समान सुपरिणामी हो, 3. कमण्डलू के समान ग्राही हो, 4. हंस के समान गुणग्राही हो, 5. मेष के समान अन्तराय नहीं करने वाला हो, 6. जलौका के समान समाधि उपजाने वाला हो, 7. जाहक के समान विनय करने वाला हो, 8. गाय-सेवक ब्राह्मणों के समान वैयावृत्य करने वाला हो, 9. भेरी रक्षक के समान भक्ति करने वाला हो, या ज्ञान का अप्रत्यनीक हो और 10. स्वदोष देखने वाले अहीर की भाँति आशातना नहीं करने वाला हो, या विसंवाद नहीं करने वाला हो, वह ज्ञान का पात्र है। उसे ज्ञान दिया जाये। इन दृष्टांतों की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है —

### (1) मुद्राशैल का दृष्टान्त-

असत् कल्पना के अनुसार एक वन था। वहाँ मुद्राशैल (मागशैलिया) नामक पत्थर रहता था। वह मूँग जितने प्रमाण वाला था। उधर आकाश में पुष्करावर्त नामक महामेघ रहता था। वह जम्बूद्वीप जितने प्रमाणवाला था।

एक समय की बात है — कलहप्रिय नारदजी, इन दोनों में कलह कराने की भावना से पहले मुद्राशैल के पास पहुँचे। मुद्राशैल ने उनका बहुत आदर सत्कार किया और कोई सुनने योग्य बात सुनाने के लिए कहा। तब नारदजी ने उससे कहा — ‘हे मुद्राशैल। किसी अवसर की बात है — महापुरुषों की एक सभा जुड़ी थी। वहाँ मैं भी पहुँच गया था। उस समय वहाँ पुष्करावर्त महामेघ भी आया हुआ था। उसे देखकर मुझे तुम्हारे गुण स्मृति में आ गये। मैंने सभा में तुम्हारे गुणों का वर्णन करते हुए कहा — ‘मुद्राशैल पत्थर, वज्र से भी अधिक कठोर है। उस पर यदि कितना भी पानी पड़ जाये, तो भी वह कभी भेदा नहीं जा सकता।’ परन्तु तुम्हारा यह गुण वर्णन पुष्करावर्त मेघ, अणुमात्र भी सहन नहीं कर सका। उसने सभा में उठकर सबके सामने मुझे कहा — ‘नारदजी। ये झूठे प्रशंसा के वचन रहने

दीजिए। जो बड़े-बड़े पर्वत होते हैं, जिनके सहस्रों शिखर होते हैं, जो आकाश का चुम्बन करते हैं, जो क्षेत्र की मर्यादा करते हैं, ऐसे पर्वत भी, जब मैं बरसता हूँ, तो ये भिंदकर सैकड़ों खण्ड हो जाते हैं, तो उस बेचार मुद्राशैल के क्या कहने? वह तो मेरी एक धारा भी सहन नहीं कर सकता।'

नारद के द्वारा पुष्करावर्त के इन वचनों को सुनते ही मुद्राशैल क्रोधाग्नि से भड़क उठा। उसने अहंकार पूर्वक कहा — 'नारदजी। पुष्करावर्त के परोक्ष में अधिक कहने से क्या लाभ है? सुनिये। मैं एक ही बात कहता हूँ कि 'वह दुरात्मा एक धार से तो क्या? परन्तु सात दिन रात बरस करके भी यदि तिल के तुष का जो सहस्रवाँ भाग होता है, उतना भी मुझे भेद दे, तो मैं अपना मुद्राशैल नाम ही छोड़ दूँ।

तब नारदजी, इन वचनों को मस्तिष्क में जमाकर कलह कराने के लिए पुष्करावर्त मेघ के पास पहुँचे और उसके सामने उन्होंने मुद्राशैल की कही हुई बात को बहुत बढ़ा चढ़ाकर रखी। उन वचनों को सुनकर पुष्करावर्त को अत्यन्त क्रोध आया और वह इस प्रकार कठोर वचन कहने लगा — 'हा! दुष्ट! तू स्वयं अपने आपकी शक्ति नहीं जानता, उल्टा मुझ पर ही आक्षेप लगाता है? अस्तु, अब मैं तेरे वचन का फल बताता हूँ।'

यह कंहकर पुष्करावर्त ने पूरी तैयारी के साथ मूसलाधार तीव्र वर्षा आरंभ की और निरन्तर-बिना एक भी दिन रुके, सात अहोरात्रि तक बरसता रहा। जब उस निरन्तर सात दिनरात की तीव्र वर्षा से सारी ही धरती जल मय हो गई, तब उसने सारे जगत् को एक महासमुद्र सा देखकर चिन्तन किया कि — 'वह बिचारा समूल ही नष्ट हो गया होगा।' यह सोचकर उसने वर्षा से निवृत्ति ली।

जब धीरे-धीरे जल समूह वहाँ से बह गया और धरती फिर से बाहार आ निकली, तब उस पुष्करावर्त ने बड़े हर्ष के साथ नारद से कहा — 'नारदजी। अब बिचारा वह मुद्राशैल किस अवस्था को पहुँच गया होगा? आइए, हम दोनों साथ ही चल कर देखें।'

नारदजी साथ हो लिए। दोनों साथ-साथ मुद्राशैल के पास पहुँचे। पहले तो उस मुद्राशैल पर धूलि चढ़ी हुई थी, इसलिए वह कुछ मन्द-मन्द चमक रहा था। पर अब वर्षा से उसके तन की सारी धूलि हट जाने के कारण वह तीव्रता से चमकने लग गया था। वह चमकाहट से मानो हास्य करता हुआ, आये हुए नारद और पुष्करावर्त से कहने लगा — 'आइए। आइए। आप दोनों का स्वागत है। स्वागत है। अहा। हम बड़े भाग्यशाली हैं कि आपने अचिन्त्य कृपा दृष्टि करके हमें अपने दर्शन दिये। हमें स्वप्न में भी जिसकी कल्पना नहीं थी, ऐसे आपके अचानक दर्शन पाकर हमारा मन मयूर नाच उठा है।'

मुद्राशैल को उस अवस्था में देखकर और उसके इन व्यंग वचनों को सुनकर पुष्करावर्त को अपनी प्रतिज्ञा-प्रष्टता से बहुत ही लज्जा उत्पन्न हुई। उसका गर्व से तना हुआ सिर, आँखें, और कन्धे सभी कुछ झुक गये। यह बिचारा कुछ भी नहीं बोल सका। उसे चुपचाप अपने स्थान लौट जाना पड़ा।

किसी वृद्ध आचार्यश्री के पास एक मुद्राशैल जैसा ही शिष्य दीक्षित हो गया। आचार्यश्री ने उसके कल्याण के लिए उसे यत्न से निरन्तर पढ़ाया किन्तु उसने एक भी अक्षर ग्रहण नहीं किया तब आचार्यश्री ने अयोग्य समझकर उसकी उपेक्षा कर दी।

अन्थदा एक युवक आचार्य, उन वृद्ध आचार्यश्री की सेवा में आये। उन्होंने उस शिष्य को आचार्य से उपेक्षित देखकर आचार्यश्री से पूछा- “आप इसे क्यों नहीं पढ़ाते?” आचार्यश्री ने उत्तर दिया- “यह मुद्राशैल के समान ज्ञान के लिए अयोग्य है, ऐसा अनुभव होने के कारण मैंने इसे पढ़ाना छोड़ दिया।” यह सुनकर वे तरुण आचार्य, आवेग में आ गये। उन्होंने वृद्ध आचार्यश्री के प्रयत्न की ओर ध्यान नहीं दिया और मुद्राशैल समान शिष्य की भी परख नहीं की, उल्टा तरुणाई के मद में आकर जंभाई के साथ अपना पराक्रम बताते हुए बोले- “आचार्यश्री जी! यह शिष्य मुझे दे दीजिये, मैं इसे पढ़ाऊँगा।” दूसरे लोगों से भी कहने लगे- “अरे, यह कोई जड़-अजीव तो है नहीं कि पढ़ाने से भी नहीं पढ़े। यदि उचित विधि से पढ़ाना आता हो, तो किसे नहीं पढ़ाया जा सकता? यदि पढ़ाने से कोई न पढ़े, तो समझना चाहिए कि पढ़ानेवाले में कहीं कोई दोष है।”

“वे दृष्टांत भी देने लगे कि-- जैसे गायें यदि कहीं गिर या ढूब जाती हैं, तो यह गायों का दोष नहीं, वरन् गाय चराने वाले ग्वाले का दोष है कि उन्हें विधि से सन्मार्ग पर नहीं चलाता।”

वृद्ध आचार्यश्री ने यह देख सुनकर अपना वह शिष्य उस आचार्य को सौंप दिया। युवक आचार्य ने बड़े यत्न से उसे पढ़ाना आरम्भ किया, परन्तु मुद्राशैल के समान स्वभाववाला वह शिष्य, अपनी न पढ़ने की वृत्ति के विचलित नहीं हुआ। दिन पर दिन निकल गये, पर उसने एक भी अक्षर नहीं सीखा। अन्त में उस युवक आचार्य को ही प्रतिज्ञा भ्रष्ट होना पड़ा। वे प्रतिभाशाली बहुश्रूत युवक आचार्य समझ गये कि- “वृद्ध आचार्यश्री का कथन सत्य था।” उन्होंने आचार्यश्री से अपने अविनय की क्षमा याचना की और चले गये।

इस प्रकार मुद्राशैल के समान जो जीव हो, उन्हें अध्ययन नहीं कराना चाहिए। जैसे बाँझ गाय के सिर, शृंग, मुँह, पीठ, पेट, पूँछ आदि पर स्नेह से हाथ फैरने पर भी वह कभी दूध नहीं देती, इसी प्रकार ऐसे जीवों को सम्यग् विधि से पढ़ाने पर भी वे तथा स्वभाव के कारण एक अक्षर भी नहीं सीख पाते। इसलिए उन्हें सिखाने से कोई उपकार नहीं हो सकता।

उनके उपकार की बात एक और रखिये। उल्टी आचार्य और अध्ययन की ही अपकीर्ति हो सकती है कि “इस आचार्य में पढ़ाने के सम्यक् कौशल का अभाव है अथवा इसका अध्ययन ही समीचीन नहीं है, अन्यथा यह शिष्य एक अक्षर भी क्यों नहीं समझता।”

दूसरी हानि यह है कि- ‘इस प्रकार के कुशिष्य कुछ भी समझ नहीं पाते। अतः आचार्यश्री को भी उत्तरोत्तर विशिष्ट सूत्र में अवगाहन करने का अवसर नहीं आता, जिससे धीरे-धीरे वे स्वयं शास्त्रों के किये कराये विशिष्ट मूलार्थ को भूल जाते हैं।’

तीसरी हानि यह है कि- 'जो दूसरे योग्य मेधावी शिष्य होते हैं, उन्हें ज्ञान लेने का अवसर प्राप्त नहीं होता और आचार्य का विशिष्ट सूत्रार्थ, विस्मृत हो जाने के कारण उन्हें विशिष्ट सूत्रार्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती। अतएव ऐसे मुद्राशैल (मगाशैलिये) के समान अपरिणामी शिष्यों को सूत्रार्थ नहीं देना चाहिए।

इसके विपरीत काली मिट्ठी का दृष्टान्त है। काली मिट्ठी पर यदि थोड़ी भी वर्षा हो, तो पानी टिकता है। वह पानी को व्यर्थ नहीं जाने देती। काली मिट्ठी- 1 पानी को ग्रहण करती है, 2 कोमल बनती है, 3 तुणादि उत्पन्न करती है, 4 बीज बोने पर बीज युक्त बनती है, 5 अंकुरित होती है और 6 गेहूँ आदि धान्य उत्पन्न करती है इसी प्रकार जो शिष्य काली मिट्ठी के समान हो, जो ज्ञान सुनकर 1 गेहूँ उत्पत्ति रूप साधुत्व ग्रहण करते हों, या 2 धान्य अंकुर रूप श्रावक ब्रत ग्रहण करते हों, या 3 बीजरूप सम्यक्त्व ग्रहण करते हों, अथवा 4 तृणरूप मार्गानुसारित्व उत्पन्न करते हों, या 5 कम से कम कोमलता (यथा-भ्रकता) प्राप्त करते हों और 6 ज्ञान को टिकाते हों, तो उन्हें ज्ञान देना चाहिए। (नन्दीसूत्र पृ. 31)

## २. घट का दृष्टान्त

घड़े छह प्रकार के होते हैं। यथा-

1. कुछ घड़े अभी अभी पके हुए नये होते हैं। वे किसी भी प्रकार की गंध से रहित होते हैं। उनमें यदि बार-बार जल भरा जाय, तो चौथीबार से वह जल, उसी रूप में रहता है (विकृत नहीं होता) और पीने वालों को भी उसी रूप में मिलता है। उसी प्रकार कुछ बाल अवस्था वाले परन्तु उपशांत मोह वाले शिष्य होते हैं। वे किसी भी प्रकार के इह पूर्व भव के कुसक्कार से रहित होते हैं। उनमें श्रुतज्ञानरूप जल भरा जाय, तो वह उसी रूप में - सम्यक् परिणमता है (मिथ्या रूप में नहीं परिणमता) और उससे अन्य पिपासुओं को भी यथावस्थित श्रुतज्ञान रूप जल मिलता है। अतएव ऐसे सुपरिणामी श्रोता, श्रुतज्ञानरूपी जल के लिय पात्र हैं।

2. कुछ घड़े वर्षों पहले के पके हुए पुराने होते हैं, उनमें कुछ घड़े गंध रहित होते हैं। जिनमें कभी कोई गंधवाली वाली वस्तु नहीं रखी गयी हो, ऐसे गंध रहित पुराने घड़ों में भी जल भरा जाय, तो उनमें भी वह जल अपने रूप में रहता है और पीने वालों को भी उसी रूप में पीने को मिलता है। उसी प्रकार कुछ युवक और वृद्ध होते हैं, जिन्हें नास्तिकों का, अन्यमतियों का, या शिथिलाचारियों का सम्पर्क नहीं मिला होता है। उनमें यदि श्रुतज्ञान रूप जल भरा जाय, तो उनमें भी प्रायः वह सम्यक् रूप में परिणमता है, मिथ्यारूप में नहीं परिणमता। अतएव ऐसे सुपरिणामी श्रोता भी श्रुतज्ञान के पात्र हैं।

3. कुछ पुराने घड़े निकाचित दुर्गन्ध वाले होते हैं। घड़ों में जब तीव्र दुर्गन्ध वाले लहसून, मदिरा आदि पदार्थों से पूर्ण भर कर बहुत वर्षों तक रखे जाते हैं, तब वे घड़े वैसी गंधवाले बन जाते हैं। उन घड़ों में यदि जल भरा जाय, तो उनकी उस दुर्गन्ध से वह जल ही दुर्गन्धित हो जाता है और पीने वालों को दुर्गन्धित जल पीने को मिलता है। उसी प्रकार कुछ युवक और वृद्ध होते हैं जो निकाचित नास्तिक संस्कार वाले बन जाते हैं। जिन्हें अन्य दर्शनियों का तीव्रतम संसर्ग रहता है, वे निकाचित अन्य धर्म संस्कार वाले बन जाते हैं, तथा जिन्हें शिथिलाचारियों का अधिकतम संसर्ग मिलता है, वे निकाचित विकृत धर्म संस्कार वाले बन जाते हैं। ऐसे जीवों को यदि श्रुतज्ञान दिया जाये, तो भी प्रायः उनके वे तथारूप कुसंस्कार दूर नहीं होते, किन्तु वे श्रुतज्ञान को ही मिथ्या रूप में परिणत कर लेते हैं और दूसरे पिपासुओं को भी वे उस श्रुतज्ञान को मिथ्यारूप में परिणत कर पिलाते हैं। अतएव ऐसे दुष्परिणामी श्रोता, श्रुतज्ञान के प्रायः अपात्र हैं।

4. कुछ पुराने घड़े अनिकाचित दुर्गन्ध वाले होते हैं। उन में जब अल्प दुर्गन्ध वाले - लहसून, मदिरादि पदार्थ रखे जाते हैं, या अल्पमात्रा में रखे जाते हैं, अथवा अल्प समय के लिए रखे जाते हैं, तो उनमें अल्प दुर्गन्ध होती है। उन घड़ों में यदि जल भरा जाता है तो कुछ समय में उनकी दुर्गन्ध दूर हो जाती है और उनमें बाद में भरा हुआ जल ठीक रूप में रहता है तथा पीने वालों को जल उसी रूप में मिलता है। वैसे ही कुछ युवक और वृद्ध अनिकाचित नास्तिक संस्कार वाले, या अन्य धर्म संस्कार वाले, या विकृत धर्म संस्कार वाले होते हैं, जिन्हें नास्तिकों का मन्द संसर्ग होता है। वे अनिकाचित नास्तिक संस्कार वाले बनते हैं, तथा जिन्हें अन्य दर्शनियों का मन्द संसर्ग मिलता है, वे विकृत धर्म संस्कार वाले बनते हैं। ऐसे को श्रुतज्ञान देने से उनके तथा रूप कुसंस्कार प्रायः दूर हो जाते हैं और पीछे उन्हें दिया हुआ श्रुतज्ञान सम्यक् रूप में परिणत होता है तथा उनसे अन्य पिपासुओं को भी सम्यक् रूप में श्रुतज्ञान मिलता है। अतएव ऐसे सुपरिणामी श्रोता, श्रुतज्ञान के पात्र हैं।

5. कुछ पुराने घड़े निकाचित सुगन्ध वाले होते हैं। जिन घड़ों में तीव्र सुगन्ध वाले - कपूर, चन्दन, अगर आदि पदार्थ पूर्ण भरकर बहुत वर्षों तक रखे जाते हैं, ऐसे घड़ों में यदि जल भरा जाय, तो वह सुगन्धित बन जाता है और पीने वाले को सुगन्धित जल पीने को मिलता है। वैसे ही कुछ वृद्ध और युवक होते हैं, जो निकाचित शुद्ध धर्म संस्कार वाले होते हैं। जिन्हें शुद्ध दृढ़ाचारी संतों का अधिक संसर्ग होता है। ऐसे जीवों को श्रुतज्ञान देने से वह सम्यग्रूप में परिणत होता है और वे दूसरे पिपासुओं को भी श्रुतज्ञान, सम्यग्रूप में पिलाते हैं। अतएव ऐसे सुपरिणामी श्रोता, श्रुतज्ञान के पात्र हैं।

6. कुछ पुराने घड़े अनिकाचित दुर्गन्ध वाले होते हैं। जिन घड़ों को सुगन्धित पदार्थों का अल्प

समय का संयोग मिलता है, वे घड़े ऐसे बनते हैं। ये घड़े कालान्तर में सुगन्धित से दुर्गन्धित भी बनाये जा सकते हैं। ऐसे घड़ों में जल भरा जाय तो वह भविष्य में दुर्गन्धित जल पीने को मिलता है। ऐसे ही कुछ युक्त और वृद्ध होते हैं, जिन्हें शुद्ध धर्म की श्रद्धा, मन्द होती है। वे किसी समय अन्य संसर्ग को प्राप्त करके शीघ्र अन्य श्रद्धा वाले बन जाते हैं। जिन्हें शुद्ध, दृढ़ाचारी सन्तों का संसर्ग कम मिलता है तथा जिनमें समझ शक्ति और परीक्षा बुद्धि की मनदता होती है। ऐसे जीवों को विशिष्ट श्रुतज्ञान देने से भविष्य में हानि की आशंका रहती है। अतएव ऐसे संभावित दुष्परिणाम वाले श्रोता, विशिष्ट श्रुतज्ञान के अपात्र संभव हैं।

अथवा घड़े चार प्रकार के होते हैं- 1. नीचे से छिद्रवाले, 2. मध्य से खण्डित, 3. ऊपर से कंठहीन और 4. सम्पूर्ण अखंड।

1. जो नीचे से छिद्रवाले होते हैं, उनमें यदि जल भरा जाय, तो वे जब तक भूमि से संलग्न रहते हैं, तब तक उनमें से जल खास नहीं निकलता किंचित् मात्र ही निकलता है। कई श्रोता ऐसे घड़े के समान होते हैं, वे जब तक आचार्य के व्याख्यान स्थल में बैठे रहते हैं और आचार्यश्री जब तक पहिले का अनुसंधान करके सूत्रार्थ सुनाते हैं, तब तक वे उसे धारण किये रहते हैं और समझ जाते हैं, परन्तु ज्योंही व्याख्यान पूरा होने पर व्याख्यान स्थल से उठते हैं, त्यों ही पूर्वापर अनुसंधान की शक्ति से रहित होने के कारण सुना समझा हुआ ज्ञान बिसर जाते हैं। ऐसे श्रोता धारण की दृष्टि से एकान्ततः अयोग्य हैं।

2. जो घड़े मध्य से खण्डित होते हैं, उनमें यदि पूरे घड़े जितना जल भरा जाय, तो उनमें उस जल का एक चौथाई, एक तिहाई, दो चौथाई, दो तिहाई, या तीन चौथाई जल ही रहेगा, शेष निकल जायेगा। कुछ श्रोता इसी प्रकार के होते हैं। उन्हें आचार्यश्री जितना सुनाते हैं, उसमें से वे एक चौथाई, एक तिहाई, दो चौथाई, दो तिहाई, या तीन चौथाई ही समझ पाते हैं- टिका पाते हैं। ऐसे श्रोता धारणा के लिये अल्पपात्र अर्द्धपात्र, द्विभाग पात्र, त्रिभाग या चतुर्भाग हीन पात्र समझने चाहिए।

3. जो घड़े ऊपर से कंठहीन होते हैं, उनमें यदि एक घड़े जितना जल भरा जाय, तो उनमें कुछ कम सम्पूर्ण जल समा जाता है। कुछ श्रोता भी उन घड़ों के समान होते हैं, उन्हें आचार्य श्री जितना सुनाते हैं, उसमें से वे कुछ कम सम्पूर्ण समझ जाते हैं, और जितना समझते हैं, उतना धारण कर रखते हैं। ऐसे श्रोता अधिकांशतः पात्र हैं।

4. जो घड़े सम्पूर्ण अखण्ड होते हैं, उनमें यदि एक घड़े जितना जल भरा जाय, तो उनमें वह जल सम्पूर्णतया समा जाता है। कुछ श्रोता भी ऐसे ही होते हैं। उन्हें आचार्य श्री जितना सुनाते

हैं, वे उसे सम्पूर्ण समझ जाते हैं और भविष्य में स्मरण में रख लेते हैं। ऐसे श्रोता पूर्ण पात्र हैं।

अथवा घड़े दो प्रकार के होते हैं- 1. कच्चे- अग्रि से बिना पके हुए और 2. पके हुए।

1. जो घड़े कच्चे होते हैं, उनमें यदि जल डाला जाय तो जल का भी विनाश हो जाता है और उस घट का भी। जो श्रोता कच्चे घड़े के समान होते हैं, उन्हें विशिष्ट श्रुतज्ञान देने से वह श्रुतज्ञान का दान भी व्यर्थ जाता है और वे उस विशिष्ट श्रुतज्ञान को न समझने के कारण या शंकाकुल होकर श्रद्धाभृष्ट हो जाते हैं। ऐसे श्रोता विशिष्ट ज्ञानदान के लिए एकांतः अयोग्य हैं।

2. जो घड़े पक्के होते हैं, उनमें जल डाला जाय, तो वे घट अधिक परिपक्व बनते हैं और जल शीतल बनता है। उनके समान जो श्रोता होते हैं, उनको यदि श्रुतज्ञान दिया जाय, तो उनकी श्रद्धा दृढ़ होती है और श्रुतज्ञान सम्यग्रूप में परिणत होता है। अतएव ऐसे श्रोता, ज्ञानदान के पात्र हैं। उन्हें ज्ञान दिया जाय।

### 3. चलनी का दृष्टांत

कई श्रोता चलनी के समान अग्राही होते हैं। जैसे चलनी में पानी डालने पर टिकता नहीं, वैसे ही कुछ श्रोता, इधर शब्द कान में पड़ता है और उधर मंद. क्षयोपशम अथवा एकाग्रता के अभाव में भूलते जाते हैं। ऐसे अग्राही श्रोता, धारणा के लिए एकांत अपात्र हैं।

1. मुद्राशैल, 2. नीचे से छिद्रवाले घट और 3. चलनी के समान श्रोताओं में रहे परस्पर अन्तर को समझने के लिए एक दृष्टान्त इस प्रकार है-

“एक समय की बात है- तीन श्रोता आपस में मिले। तीनों की सभा में प्रसंगवश उपदेश श्रवण की बात चल पड़ी। नीचे छिद्रवाले घट के समान श्रोता ने कहा- “बन्धुओं! उपदेश श्रवण कर उसे धारण करना भी एक प्रकार का परिग्रह है। अतएव मैं जब तक आचार्य श्री व्याख्यान स्थल पर उपदेश सुनाते हैं, तभी तक मैं उसे स्मरण रखता हूँ। परन्तु ज्यों ही व्याख्यान स्थल से उठता हूँ, सब कुछ वहीं बिसर जाता हूँ। अपने मस्तिष्क में कुछ भी संग्रहित नहीं रखता।”

चलनी की उपमा वाले श्रोता ने कहा- “बन्धु- ! गर्व न करो! तुम तो जहाँ तक व्याख्यान स्थल में बैठे रहते हो, तब तक उस उपदेश का मस्तिष्क में परिग्रह किये रहते हो, पर मैं इधर सुनता हूँ और उधर बिसारता जाता हूँ। अतएव मैं तुम से अधिक श्रेष्ठ हूँ।

मुद्राशैल की उपमा वाले श्रोता ने कहा- “बन्धुओं! सुनिये, आप दोनों अब तक अपरिग्रह की मात्र साधना करने वाले हैं, पर मैं इस विषय में सिद्ध हूँ। मैं अपने में उपदेश का एक अक्षर भी

प्रविष्ट नहीं होने देता। अतएव आप दोनों मिलकर भी मेरी समता नहीं कर सकते। दोनों ने उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की वैसा प्रस्ताव पारित किया और सभा समाप्त हो गई।

कुछ श्रोता इसके विपरीत, तापसों के कमण्डल के समान ग्राही होते हैं। जैसे- कमण्डल में जल भरने पर उसमें से जल का एक बिन्दु भी बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार कुछ श्रोता ऐसे होते हैं कि वे आचार्य श्री द्वारा दिया हुआ सूत्रार्थ, पूर्णतया धारण किये रहते हैं। ऐसे ग्राही श्रोता, धारणा की दृष्टि से एकांत पात्र हैं।

## ४-५ परिपूणक और हंस का दृष्टान्त

कुछ श्रोता परिपूणक (पक्षी विशेष जालीदार घोंसला) के समान दोषग्राही होते हैं। जैसे परिपूणक में कचरा युक्त धी डालने पर उसमें कचरा ठहर जाता है और धी छनकर नीचे निकल जाता है। ऐसे ही कुछ श्रोता होते हैं, जो व्याख्याता के द्वारा प्रभाव आदि के कारण कभी कोई ऐसी अन्यथा व्याख्या हो जाए, जो उन कुशिष्यों के प्रमाद अनाचार अनुकूल हो, तो वे उसे तो ग्रहण करके रखते हैं, शेष यथार्थ हितकर व्याख्या को भूल जाते हैं। अथवा उन आचार्य की उस विपरीत व्याख्या को लेकर उन्हें व्याख्यान के अयोग्य आदि बतलाते हैं और शेष व्याख्यान कुशलता को एक ओर डाल देते हैं। अथवा उनकी व्याख्या की यथार्थता को नहीं देखते अपनाते, परन्तु उनके जीवन में रहे किसी दुर्गुण को ही देखते अपनाते हैं। ऐसे दुर्गुणग्राही श्रोता, श्रुतज्ञान दान के अयोग्य हैं।

कुछ श्रोता हंस के समान गुणग्राही होते हैं। जैसे- हंस को यदि जल मिश्रित दुध मिलता है, तो वह अपनी चोंच में रही अम्लता के कारण जल से दूध को पृथक् करके दूध ग्रहण करता है और जल छोड़ देता है अथवा हंस स्वच्छ जल पीता है, मलिन जल छोड़ देता है। कुछ श्रोता भी इसी स्वभाव के होते हैं। यदि कभी व्याख्याता, छद्मस्थता से व्याख्यान में कहीं कोई स्खलना कर जाता है, तो वे अपनी विवेक रूप चंचु से उस स्खलना रूप जल को पृथक् करके यथार्थ व्याख्यारूप दूध ही ग्रहण करते हैं। अथवा व्याख्याता के व्याख्यान में रहे हुये प्रमाद की उपेक्षा करके, उनके व्याख्यान कौशल की प्रशंसा करते हैं, अथवा उनके जीवन में रहे दुर्गुण को ग्रहण नहीं करके उनके यथार्थ व्याख्यान के अनुसार अपना आचार बनाते हैं। ऐसे गुणग्राही श्रोता हंस के समान दुर्लभ हैं और एकांत योग्य हैं।

## ६-७ भैंसे और मेढ़े का दृष्टान्त

1. कुछ श्रोता भैंसे के समान अन्तराय करने वाले होते हैं। जैसे- भैंसा जब तालाब आदि में प्रवेश करता है, तो वह उसमें शीतलता के लिए बार-बार इधर-उधर धूमता है, या बैठे-बैठे सिर, पैर और पूँछ हिलाया करता है, करवटें बदलता रहता है, इससे पानी अस्वच्छ बन जाता है, फिर मल

और मूत्र करके अधिक गन्दा बना देता है। इसके बाद जल पीता है, जिससे उसे भी स्वच्छ जल नहीं मिलता और दूसरों को भी स्वच्छ जल पीने में अन्तराय पड़ती है। कुछ श्रोता भी इसी प्रकार के होते हैं। वे व्याख्यान स्थल में चुपचाप स्थिर नहीं बैठते, या तो इधर-उधर घूमते रहते हैं या बैठकर इधर-उधर हिलते-इलते और देखते रहते हैं, या इधर-उधर की बातें करने लग जाते हैं अथवा अप्रासंगिक प्रश्न छोड़ देते हैं, व्यर्थ की कुर्तक करने लग जाते हैं, या जान बूझकर सीधे सरल प्रश्न को लम्बाने और घुमाने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार न तो वे स्वयं श्रुतज्ञान का सम्यक् लाभ उठा पाते हैं, न दूसरे श्रोताओं को लाभ लेने देते हैं। वैसे अन्तराय भूत श्रोता, व्याख्यान स्थल में प्रवेश के ही अयोग्य हैं।

कुछ श्रोता मेढ़े के समान अन्तराय नहीं करने वाले होते हैं। मेढ़ा, जलाशय के बाहर ही घुटने टेक कर पानी में थोड़ा सा मुँह डालकर पानी पीता है। वह पानी को स्वच्छ बनाये रखते हुए अपनी प्यास बुझाता है और दूसरों के लिये भी स्वच्छ जल पीने का अवसर देता है। जो श्रोता मेढ़े के समान होते हैं वे व्याख्यान स्थल में जहाँ भी पीछे स्थान मिलता है, बिना किसी का ध्यान भंग किये चुपचाप स्थिर होकर बैठ जाते हैं और एकाग्रता पूर्वक सुनते हैं। यदि प्रश्न पूछना हो, तो प्रासंगिक उचित और आवश्यक प्रश्न पूछते हैं। जिससे उन्हें भी श्रुतज्ञान का अच्छा और विशेष लाभ मिलता है। ऐसे अन्तराय न करने वाले श्रोता, व्याख्यान स्थल में प्रवेश के योग्य हैं।

## ८-९ मच्छर और जलौका का दृष्टान्त

कुछ श्रोता मच्छर के समान असमाधिकारक होते हैं, जैसे मच्छर डंक लगाकर विष पहुँचाता है और अविकृत रक्त चूस कर प्राणियों को असमाधि पहुँचाता है, वैसे ही कुछ श्रोता, आचार्य को कुवचन कहकर अपमानित करते और कष्ट देकर असमाधि पहुँचाते हैं वे असमाधि पहुँचाते हुए ज्ञान ग्रहण करते हैं, अथवा जब तक आचार्य असमाधि से उदास खिन्न या कोपायमान न हो जायें, तब तक उनकी बात को विनय एकाग्रता और स्थिरता पूर्वक नहीं सुनते। ऐसे असमाधिकारक श्रोता, ज्ञान के अपात्र हैं।

कुछ श्रोता, जलौका के समान समाधिकारक होते हैं। जैसे- जलौका जिस समय विकृत रस चूसती है, तब भी साता का वेदन होता है और विकृत रस चूस लेती है, तब भी परिणाम में साता का वेदन होता है। ऐसे ही श्रोता, आचार्य को विनय युक्त वचन कहकर, उनका बहुमान कर और उन्हें सुख देकर समाधि पहुँचाते हैं, वे समाधि पहुँचाते हुए ज्ञान ग्रहण करते हैं। कभी प्रमादवश उन्हें असमाधि हो जाय, तो विनय पूर्वक उनकी असमाधि दूर करते हैं। ऐसे समाधिकारक श्रोता, ज्ञान के पात्र हैं।

## १०-११ बिल्ली और जाहक का दृष्टान्त

कुछ श्रोता बिल्ली के समान अविनीत होते हैं। बिल्ली का ऐसा दृष्ट स्वभाव होता है कि वह प्रायः भोजन में दूध आदि नहीं पीती पर स्वामीभय से भोजन को ठोकर लगाकर दूध आदि को भूमि पर बहा देती है और फिर उसे पीती है। इससे उसे पूरा दूध पीने को नहीं मिलता, दूध भूमि पर बह जाने से उसमें जो रज आदि मिल जाते हैं, उससे सम्मिश्रित दूध पीना पड़ता है। साथ ही वह दूध आदि को बहुत ही शीघ्रता से चाटती है जिससे उसे पाचन भी बराबर नहीं होता। इसी प्रकार कुछ श्रोता विनय से बचने के लिए व्याख्यान में आकर श्रुतज्ञान ग्रहण नहीं करते, पर जो व्याख्यान सुनकर चले जाते हैं, उनसे पूछ कर सुनते हैं, या ऐसे लोगों की परस्पर बातचीत सुनकर ही काम निकालने की वृत्ति रखते हैं उन्हें श्रुतज्ञान का पूरा लाभ नहीं मिलता, फिर उन श्रोताओं में मोह, मति मन्दता आदि के कारण अन्यथा कथन रूप रज आ जाता है, उस दोष से मिश्रित व्याख्या सुनने को मिलती है। इसके अतिरिक्त ऐसे श्रोता, धैर्य एवं शान्तिपूर्वक नहीं सुनते हैं। अतएव उन्हें उस श्रुतज्ञान का पूरा पाचन भी नहीं होता। ऐसे अविनीत श्रोता, श्रुतज्ञान के अपात्र हैं।

कुछ श्रोता जाहक के समान विनीत होते हैं। जाहक, दूध आदि को भोजन में रहते हुये ही पीता है। थोड़ा-थोड़ा पीता है, इधर-उधर के पार्श्व भागों को चाटते हुए पीता है। इससे उसे पूरा दूध पीने को मिलता है, शुद्ध दूध पीने को मिलता है और दूध का पूरा पाचन होता है। ऐसे जो श्रोता होते हैं, वे आचार्य आदि का यथा योग्य विनय करते हैं, विनय पूर्वक उनके चरणों में बैठकर श्रुतज्ञान ग्रहण करते हैं अपनी मन्द या तीव्र ग्रहण (धारणा) शक्ति के अनुसार अल्प बहुत मात्रा में श्रुतज्ञान ग्रहण करते हैं और ग्रहण करके उसे दुहराकर परिपक्व बनाते हैं। इससे उन्हें श्रुतज्ञान का पूरा लाभ मिलता है। शुद्ध रूप में लाभ मिलता है और पूरा पाचन होता है। ऐसे विनीत श्रोता, श्रुतज्ञान के पात्र हैं।

## १२. जौ-सेवी ब्राह्मणों का दृष्टान्त

कुछ श्रोता, गाय की सेवा नहीं करने वाले ब्राह्मणों की भाँति गुरु की वैयावृत्ति रहित होते हैं। एक गांव में चार ब्राह्मण रहते थे। वे चारों चौबे (चारों वेद के जानकार) थे। किसी कुटुम्बी ने एक पर्व के दिन उनसे कथा करवाई और दक्षिणा में उन्हें अन्य वस्तुओं के साथ एक हस्ट-पुष्ट और विशेष दूध देने वाला विनीत गाय दी।

उस गाय के मिलने पर उन्होंने सोचा- ‘हम चार हैं, और गाय एक है। हमें इसका उपभोग किस प्रकार करना चाहिए? तब एक ने कहा हम लोग एक-एक दिन बारी-बारी से गाय दुहते रहें।’ यह सुझाव सबको उचित लगा और सभी ने स्वीकार कर लिया। पहले दिन सबसे बड़े ब्राह्मण को गाय दी गई। उस ब्राह्मण ने गाय घर ले जाकर सोचा- ‘मैं तो इस गाय को आज ही दुँहूँगा, कल तो दूसरा दुहेगा। अतः इसे निरर्थक चारा पानी क्यों डालूँ? यह सोचकर उसने गाय

का दूध तो दूह लिया, परन्तु दुहने से पहले या पीछे उस गाय को चारा पानी नहीं दिया। इससे वह गाय बिचारी दिन रात भूखी-प्यासी ही रही। रात को उसकी शीत से रक्षा का प्रबंध भी नहीं किया और वह सर्दी से पीड़ा पाती रही। दूसरे दिन दूसरा ब्राह्मण उस गाय को अपने घर ले गया और उसने भी पहले ब्राह्मण के समान दुष्ट विचार से गाय को दूध दुह लिया, पर चारा पानी आदि नहीं दिया। शेष ब्राह्मण भी ऐसे ही निकले। इस प्रकार उन चारों स्वार्थी, निर्दय ब्राह्मणों के द्वारा अपना स्वार्थ साधने और दुसरों की चिन्ता नहीं करने की दुरुत्ति से वह गाय बिचारी भूख प्यास से क्षीणकाय होती हुई मर गई और उन ब्राह्मणों को गाय के दूध से वंचित होना पड़ा। गाय के मरने से गो-हत्या का पाप लगा। गाँव के लोगों में उनकी बड़ी तीव्र निन्दा हुई — ‘अरे। ये वेदपाठी ब्राह्मण हैं, या निर्दय चाण्डाल?’ उनका कथा बाँचने का व्यवसाय भी उठ गया, भिक्षा और दक्षिणा मिलनी भी बन्द हो गई। तब वे उस गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव चले गये, पर वहाँ भी उनकी अपयश कथा पहुँच चुकी थी, अतएव वहाँ और अन्यत्र कहाँ भी उन्हें शरण प्राप्त नहीं हुई।

ऐसे ही कुछ शिष्यों की कहानी है — एक बहुश्रृत बहुआगम के ज्ञाता सहनशील शांत आचार्य थे उनके पास उनके निजी शिष्य भी बहुत थे और उनकी ज्ञानादि गुणों की गरिमा से विविध अन्य गच्छ के कई प्रातीच्छक संत भी उनकी सेवा में आकर वाचना लेते थे। परन्तु पढ़ने के पहले और पीछे गोचरी आदि वैयावृत्य का अवसर आता, तो निजी शिष्य सोचते कि ‘आचार्य केवल हमें ही व्याख्यान नहीं सुनाते, पर प्रातीच्छकों को भी सुनाते हैं। अतएव वे ही आचार्य की वैयावृत्य करेंगे, हम आचार्य श्री की वैयावृत्य क्यों करें?’ प्रातीच्छक भी सोचते — “हम तो पराये गच्छ के हैं और कुछ समय के लिये आये हुए हैं तथा हमें तो इनसे अल्प समय का लाभ है। अतः हम इनकी वैयावृत्य क्यों करें? इनकी वैयावृत्य इनके शिष्य ही कर लेंगे। क्योंकि जीवन भर लाभ तो वे ही लेंगे,” इस प्रकार सोचकर दोनों ही आचार्य की सेवा नहीं करते थे।

इस प्रकार उन दोनों के चिन्तन के बीच आचार्य श्री ने वैयावृत्य के अभाव में चला वहाँ तक चलाया पर धीरे-धीरे अशक्त एवं ग्लान हो गए। इससे दोनों को ही सूत्रार्थ प्राप्ति में हानि हुई। आचार्य श्री के वैयावृत्य न करने से उन्हें जो अशक्तता और ग्लानता आई, उसका पाप लगा। संघ को जानकारी हुई तो संघ में भी अवर्णवाद हुआ। उस गण के दूसरे वाचक आचार्य ने भी उन्हें ज्ञानदान नहीं दिया। वहाँ से अन्य गणों में जाने पर भी उन्हें अपयश कथा के कारण श्रुतज्ञान नहीं दिया गया, जिससे वे अगीतार्थ ही रह गये। तथा भवांतर मे वे उच्च गति के अधिकारी न बन सके। ऐसे वैयावृत्य न करने वाले श्रोता, ज्ञान के अपात्र हैं।

इसके विपरीत कुछ श्रोता, गाय की सेवा करने वाले ब्राह्मणों की भाँति गुरु की वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

पूर्वोक्त गाँव में अन्य चार ब्राह्मण रहते थे। वे भी वेदपाठी थे। उन्हें भी किसी कुटुम्बी ने पर्व के दिन उनसे कथा करवा कर दक्षिणा में अन्य वस्तुओं के साथ एक गाय भी दी।

उन्होंने भी पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक दिन बारी-बारी से गाय दुहने का निर्णय किया। पहले दिन बड़ा ब्राह्मण गाय को अपने घर ले गया। उसने सोचा — यद्यपि मैं आज ही दूध दुहूँगा, कल दूसरा दूध दुहैगा, परन्तु यदि मैं इस गाय को चारा पानी नहीं दूँगा, शीतादि से रक्षा नहीं करूँगा, तो क्रमशः मुझे भी इसका दुष्कल भोगना पड़ेगा। गाय को जो पीड़ा होगी, उसका पाप लगेगा। लोक में भी अवर्णवाद होगा। भविष्य में दक्षिणादि मिलना बन्द हो जायगा। अतएव मुझे अवश्य ही इसे चारा पानी डालना चाहिए, जिससे इनमें से एक भी दुष्कल न हो। साथ ही यदि मेरे चारे पानी से पुष्ट हुई गाय का दूध अन्य ब्राह्मण दूहेंगे, तो यह मुझ पर महान् पुण्य अर्जन उपकार होगा। यह सोचकर उसने गाय को पर्याप्त मात्रा में चारा पानी दिया। उसकी पूरी-पूरी देखभाल रखकर रक्षा की। शेष तीन ब्राह्मणों ने भी ऐसा ही सोचा और किया। इससे वे चिरकाल तक उस गाय का दूध पाते रहे। लोक में उनकी गौ-सेवा की बहुत प्रशंसा हुई और आगे भी उन्हें दक्षिणा में बहुत मिलता रहा।

इसी प्रकार के शिष्यों की एक कथा है। एक गुणसम्पन्न आचार्य के पास कई निजी शिष्य और कई प्रातीच्छक थे। पढ़ने के पहले और पीछे निजी शिष्य सोचते थे — “यद्यपि ये आचार्य दोनों को ही श्रुतज्ञान देते हैं, किन्तु वैयावृत्य हमें भी करना चाहिए। यदि हम वैयावृत्य नहीं करेंगे, तो आचार्य अशक्त एवं ग्लान हो जाएंगे और संभव है इस निमित्त से काल के पूर्व काल भी कर जायँ। इससे हमें भी श्रुतज्ञान में अन्तराय होगी, संघ में अवर्णवाद होगा, इस गच्छ के अन्य आचार्य भी वाचना नहीं देंगे, अन्य गच्छ में भी वाचना नहीं मिलेगी, अतएव हमें अवश्य ही आचार्य श्री की वैयावृत्य करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन आचार्य श्री ने हमें दीक्षा दी, ब्रत का आरोपण किया, और संयम के आचार में निपुण बनाया। इस प्रकार आचार्य हमारे महान् उपकारी हैं। उस उपकार के प्रत्युपकार के लिए भी हमें इनकी वैयावृत्य करनी चाहिए। यदि हमारे वैयावृत्य के द्वारा पुष्ट होकर आचार्य श्री इन प्रातीच्छकों को ज्ञान देंगे, तो उससे हमें भी पुण्य एवं निर्जश का लाभ होगा। इस प्रकार करने से हमारे गच्छ की शोभा में वृद्धि होगी’। यह सोचकर वे विनयी शिष्य, आचार्य श्री की बहुत वैयावृत्य करते थे।

तथा जो प्रातीच्छक थे, वे भी सोचते थे — अहो। ये आचार्य कैसे महान् हैं, हम इनके शिष्य नहीं, हमने इनकी कभी सेवा नहीं की, फिर भी हमें श्रुतज्ञान प्रदान करते हैं, ये कितना परिश्रम करते

हैं? दूसरा ऐसा कौन होगा, जो बिना आशा के, बिना उपकार के दूसरों पर उपकार करे? ऐसे महान् आचार्य का हम क्या प्रत्युपकार कर सकते हैं? तथापि हम जो कुछ भी इनकी वैयावृत्य करेंगे, उससे हमें बहुत लाभ होगा।' इत्यादि सोचकर वे आचार्यश्री की बहुत सेवा करते थे।

दोनों की सेवा से आचार्यश्री को बहुत समय तक सूत्रार्थ देते हुए भी अशक्तता नहीं आती है। अतएव उनसे निजी और पर, दोनों शिष्यों को बहुत वर्षों तक, विपुलतर श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई। संघ में दोनों का खूब साधुवाद हुआ। गच्छांतर में भी उन्हें बहुत श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई। तथा भवान्तर में में सुगति पाते हुए वे मोक्षाधिकारी बने। ऐसे वैयावृत्यकारी शिष्य, श्रुतज्ञान के पात्र हैं।

### 13. भेरीवादक का दृष्टांत-

कुछ श्रोता, भेरीनाशक के समान ज्ञान के प्रति भक्ति से रहित तथा ज्ञान के शत्रु होते हैं।

कुबेर निर्मित द्वारिका नगरी में, दक्षिण भरत के स्वामी श्री कृष्ण राज्य कर रहे थे। किसी समय उस नगरी में रोग का उपद्रव उत्पन्न हो गया।

प्रथम स्वर्ग में अधिपति 'शक्र' इन्द्र अपनी सुधर्म सभा में बैठे हुए थे। सभा में 'पुरुष-गुण विचारणा' का विषय आया, तो उन्होंने 'अवधि' से द्वारिका स्थित श्री कृष्ण को देखकर सामान्य रूप से उनकी प्रशंसा करते हुए कहा — "अहो! श्री कृष्ण धन्य हैं कि — वे दोष-बहुल वस्तु में भी गुण को ही ग्रहण करते हैं, लेश-मात्र भी दोष ग्रहण नहीं करते, तथा नीच युद्ध भी नहीं करते।"

इस प्रकार इन्द्र द्वारा की गई कृष्ण की प्रशंसा को एक मिथ्या दृष्टि देव सहन नहीं सका। वह पृथ्वी पर आया और जिस मार्ग से श्री कृष्ण, भ. अरिष्टेनी के बन्दनार्थ जाने वाले थे, मार्ग में एक मेरे हुए से कुत्ते का रूप बनाकर पड़ गया। उस कुत्ते में इतनी दुर्गन्ध थी कि 'उसके निकट होकर किसी को निकलना बहुत कठिन था।' उसका वर्ण अत्यन्त काला था, स्पर्श अत्यंत कर्कश और रुक्ष था, आकार बहुत भयावना था, शरीर में सैंकड़ों कीड़े बिलबिला रहे थे और मुँह खुला हुआ था। परन्तु उसमें दाँत अत्यंत श्वेत, चमकीले, श्रेणी बद्ध और सुन्दराकार थे।

यथा समय श्री कृष्ण नेमि-बन्दना को निकले। उनके आगे पैदल चलने वाले लोग, जब उस कुत्ते के निकट पहुँचे, तो वे उसकी दुर्गन्ध से अत्यंत संत्रस्त होकर नाक ढँकने लगे, मार्ग को छोड़कर इधर-उधर होकर जाने लगे और कुत्ते के रूप, गंध तथा दशा की निन्दा करने लगे।

जब कृष्ण ने अपने आगे चलने वाले लोगों को यों नाक ढँकते और मार्ग छोड़ते देखा, तो उन्होंने अपने निकटवर्ती सेवकों से इसका कारण पूछा। उन्होंने कारण बताया, किन्तु श्री कृष्ण ने इस कारण से मार्ग नहीं छोड़ा। वे उसी मार्ग पर चलते रहे। जब वे उस मृत-से कुत्ते के पास पहुँचे तो उन्होंने

उस कुत्ते की अवस्था देखी, परन्तु उन्होंने उसके किसी भी दुर्ऊण की निन्दा नहीं की, वरन् उन्होंने उस कुत्ते में रही एक मात्र गुणरूप श्वेत दंत-पंक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा 'अहो। इसकी दंत पंक्ति तो मरकत मणि (यह कृष्ण वर्ण होता है) के भाजन में रखी हुई मोती की श्रेणी के समान कितनी भव्य लगती है।'

इस प्रशंसा वचन को सुनकर देवता को स्वीकार करना पड़ा कि — 'शक्र इन्द्र ने जो कहा था-वह यथार्थ है।'

उसके कुछ समय पश्चात् जब श्रीकृष्ण, श्रीनेमिवन्दन करके लौट आये, तब उस देवता ने कृष्ण की युद्ध परीक्षा के निमित्त उनकी घुड़शाला से एक घोड़े का अपहरण किया। यह देखकर वैदल सेना के लोग तलवार, भाले आदि लेकर उसके पीछे पड़े। कई कुमार भी उस देवता के पीछे पड़े थे। सबने उस देवता पर सैंकड़ों प्रहार किये, पर वह देव अपनी दिव्य शक्ति से उन सभी को लीलामात्र से जीतता हुआ मन्द गति से आगे बढ़ रहा था। श्री कृष्ण को इस घटना की जानकारी हुई, तो वे भी उसके पीछे गये। श्री कृष्ण ने उसके पास पहुँचकर उससे पूछा — 'आप मेरे अश्व-रत्न का अपहरण क्यों कर रहे हैं?' देव ने कहा — 'मैं अपहरण करने की शक्ति रखता हूँ, अतः अपहरण कर रहा हूँ। यदि तुझ में कोई शक्ति हो, तो मुझें जीतकर इसे छुड़ा ले।' तब युद्ध-प्रिय-कृष्ण ने सहर्ष पूछा 'हे महापुरुष। आप किस युद्ध से लड़ना चाहेंगे?' यों कहकर कृष्ण ने उस देव को विविध प्रकार के युद्धों के नाम गिनाये। परन्तु देव ने उन सभी युद्धों से लड़ने का निषेध कर दिया। तब कृष्ण ने पूछा — 'आप ही कहिए, किस रीति से मैं युद्ध करूँ?' वह देव बोला — 'तू मुझ से पुतों से = नितम्ब से युद्ध कर।' तब श्री कृष्ण ने अपने दोनों कानों को दोनों हाथों से बन्द करके 'हा। हा।' करते हुए कहा — यह आप क्या कह रहे हैं? जाइए, जाइए, आप अश्व-रत्न ले जाइए, मुझसे अधम रीति से युद्ध करना शक्य नहीं है।'

देव को यह निश्चय हो गया कि — 'शक्र इन्द्र की दूसरी बात भी सत्य हैं। उसने अपना वास्तविक दिव्य रूप प्रकट करके श्री कृष्ण से कहा — 'कृष्ण। मैं तुम्हारे अश्व का अपहरण करने नहीं आया। मैंने तुम्हारे गुण की परीक्षा के लिए ऐसा किया है।' यह कहकर देव ने शक्र कृत प्रशंसा का वृतांत कह सुनाया।

अपनी गुण प्रशंसा सुनकर श्री कृष्ण लज्जित हुए। उन्होंने अपनी ग्रीवा, मस्तक और नयन द्वाका लिए। वह देव श्री कृष्ण की यह अन्य विशेषता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने कहा — 'कृष्ण। मनुष्यों को वैमानिक देवों का दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता,' — ऐसे लोक में प्रसिद्धि है। अतएव

तुम मुझ से कुछ यथेष्ट वर माँगों।'

कृष्ण ने कहा — 'देव। अभी द्वारिका नगरी में रोग का उपद्रव चल रहा है। अतः उसे इस प्रकार उपशांत कीजिए कि वह फिर से उत्पन्न न हो।' देव ने उन्हें गोशीर्ष चन्दन से बनी हुई, आशिव का उपशम करने वाली एक भेरी दी और कहा — 'इसका नियम यह है कि इसे छह-छह मास के पश्चात् अपने आस्थान मण्डप में रखकर ही बजाई जाय। इसका बारह- बारह योजन तक सुनाई देने वाला, मेघ गर्जना के समान गंभीर शब्द होगा। इसका शब्द जो भी सुनेगा, उसकी पहले की उपशम योग्य नियत व्याधि निश्चय ही चली जायगी और भविष्य में छह मास से पहले कोई व्याधि नहीं होगी।'

श्री कृष्ण ने वह भेरी, अपने भेरी बजानेवाले को दी और देव-प्रदत्त सूचना से उसे अवगत कर दिया।

दूसरे दिन श्री कृष्ण, सहस्रों राजा आदि से युक्त राजसभा में बैठे हुए थे। तब वह भेरी बजाई गयी। भेरी का नाद सुनते ही नगरी के समस्त रोगियों का रोग उसी प्रकार नष्ट हो गया, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है। रोग मुक्त होकर सभी द्वारिकावासियों ने श्री कृष्ण को बारम्बार 'भद्रं भद्रं' आशीर्वाद दिया।

एक समय की बात है — किसी दूर देशान्तर में एक महान् धनाढ्य पुरुष रहता था। उसके शरीर में कोई असाध्य व्याधि उत्पन्न हो गयी थी। उसने बहुत से उपचार कराये, पर कोई फल नहीं निकला। किसी जानकार पुरुष ने उसे कहा कि — 'तुम द्वारिका जाओ। वहां सर्व-रोग-शामक भेरी बजती है। उससे तुम्हारा रोग नष्ट हो जायगा।' यह सुनकर वह द्वारिका पहुँचा, परन्तु दैव-योग से वह एक दिन पहले ही भेरी बज चुकी थी। उसने सोचा — 'अब मैं कैसे जीवित रहूँगा? क्योंकि अब फिर से छह मास के पश्चात् भेरी बजेगी, तब तक तो यह व्याधि बढ़कर मेरे प्राणों का नाश ही कर देगी।' यह सोचते-सोचते वह चिन्ता सागर में डूब गया। अचानक उसे विचार स्फुरित हुआ कि — 'जब इस भेरी के शब्द मात्र से व्याधि दूर हो जाती है, तो उसके कुछ भाग को घिस कर पी लेने से रोग अवश्य ही नष्ट हो जायगा। मेरे पास धन बहुत है, अतः धन का प्रलोभन देकर मुझे उस भेरी का एक भाग भवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए।'

यह सोचकर उसने भेरी बजाने वाले को विपुल धन से प्रलोभित किया। जिस प्रकार दुष्ट स्त्रियों ने निरन्तर धन आदि से संमानित किया जाय, तो भी वे अपने स्वामी को छोड़कर पर पुरुषों से अधिक नाद मिलने पर व्यभिचार करती हैं, वैसे ही उस भेरी बजाने वाले को, उसके स्वामी श्री कृष्ण से

धनादि बहुत प्राप्त होता था, फिर भी उसने विपुल धन के प्रलोभन में आकर उस भेरी का एक भाग काटकर उस धनिक को दे दिया एवं उसके स्थान पर अन्य चन्दन का खण्ड लगा दिया। इसी प्रकार भविष्य में परम्परा में अन्य-अन्य देशों से आये हुए, नाना रोगियों को वह धन-लुब्ध बनकर भेरी का एक-एक भाग काटकर देता रहा तथा उसके स्थान पर नया खण्ड जोड़ता रहा। यों खण्ड-खण्ड देते हुए तथा खण्ड-खण्ड जोड़ते हुए वह भेरी कालांतर से कन्या के समान चन्दन-खण्ड की सहस्रों जोड़-वाली बन गई। जिससे उसमें रहा हुआ दिव्य प्रभाव क्षीण होता-होता नष्ट हो गया और पहले नगरी में जिस रोग का उपद्रव चल रहा था, वह पुनः उदय में आकर फैल गया।

लोगों ने जाकर श्री कृष्ण से विज्ञप्ति की — ‘राजन। जैसे वर्षाकाल की मेघाच्छन्न अमावस्या की रात्रि को तीव्र अंधकार व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार द्वारिका में फिर से रोग का भयंकर उपद्रव व्याप्त हो जाता है।’ यह सुनकर श्री कृष्ण ने दूसरे दिन सभा में भेरी बजाने वाले को बुलाया और उसे भेरी बजाने के लिए कहा। उसने भेरी बजाई, पर उसका शब्द सभा तक भी नहीं फैला। तब श्री कृष्ण ने स्वयं भेरी को निरखा। वह महादरिक्री की कथा की भाँति सहस्रों अन्य चन्दन खण्डों से जुड़ी हुई दिखाई दी। यह देखकर श्री कृष्ण को बहुत क्रोध आया। उन्होंने उस भेरी-रक्षक से पूछा — ‘अरे दुष्ट। पापी। अधम। यह तूने क्या किया? उस भेरी-रक्षक ने मरण के भय से सब कुछ सच-सच बतला दिया। उसके भ्रष्टाचार की बात सुनकर श्री कृष्ण ने उस भेरी-रक्षक को महान् अनर्थ करनेवाला समझकर तत्काल शूली पर चढ़वा दिया, तथा जन अनुकम्पा के लिए पुनः औषधशाला में तेले का तप करके देव की आराधना की। देव के प्रत्यक्ष होने पर उसे स्मरण का हेतु बतलाया। देव ने श्री कृष्ण को दूसरी रोगोपद्रव मिटाने वाली भेरी दी। श्री कृष्ण ने यह भेरी एक अत्यन्त विश्वस्त एवं योग्य भेरी-वादक को सौंपी। उस निर्लोभ भेरी-वादक ने धन वैभव को ठोकर मारकर अत्यन्त निष्ठा के साथ उस भेरी की रक्षा की। उससे प्रसन्न होकर श्री कृष्ण ने बहुत वर्षों के बाद उसे पीढ़ियों तक अखूट धन देकर बिदा कर दिया।

इस दृष्टांत में देव के स्थान पर तीर्थकर, कृष्ण के स्थान पर आचार्य, भेरी के स्थान पर जिन वाणी और भेरीवादक के स्थान पर शिष्य समझना चाहिए।

जिस प्रकार देव ने कृष्ण को भेरी दी, उसी प्रकार तीर्थकर, जिनवाणी प्रकट करके उसे गणधरादि आचार्यों को देते हैं। जैसे कृष्ण ने प्राप्त भेरी, भेरीवादक को दी, वैसे ही गणधरादि आचार्य अपने शिष्यों को जिनवाणी देते हैं, जैसे भेरीवादक, भेरी को बजाने वाला है, वैसे ही शिष्य, अन्य को जिनवाणी सुनाता है। जैसे वह भेरी, सर्व रोग उपद्रव की शामक थी, वैसे ही जिनवाणी भी समस्त कर्म रोग को शमन करने वाली है।

भेरी का नाश करनेवाले भेरी-वादक के समान कुछ शिष्य, आचार्य से जिनवाणी प्राप्त करके अपने असत्यक की पुष्टि के लिए या स्वार्थ के लिए, मूल सूत्र में ही घटाव बढ़ाव और बदलाव करते हैं। कुछ उसके अर्थ में छिपाव, घुमाव और विपर्यय करते हैं अथवा कुछ शिष्य कहीं कोई सूत्र या अर्थ भूल जाने पर उसे अन्य गीतार्थ से पूछकर पूरा नहीं करते, पर अपनी मति कल्पना से उसमें नया सूत्रार्थ जोड़कर पूरा करते हैं।

अथवा कुछ शिष्य, जैन सूत्रार्थ में अजैन सूत्रार्थ का सम्मिश्रण कर देते हैं। ऐसे श्रुत के प्रति भक्ति से रहित, श्रुत के शत्रु, श्रुत-दान के अयोग्य हैं। ऐसा करने वाले स्वयं सम्यकत्व से भ्रष्ट होते हैं, दूसरों को सम्यकत्व आदि से भ्रष्ट करते हैं, दुर्लभ बोधी बनते हैं और अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

इसके विपरीत भेरी की सम्यक रक्षा करने वाले, भेरीवादक के समान कुछ शिष्य असत् मताग्रह और स्वार्थ को एक ओर रखकर, सूत्रार्थ को मान देते हैं, सूत्र और अर्थ को अविच्छिन्न रखते हैं, भूल जाने पर, दूसरे गीतार्थों से पूछकर पूरा करते हैं, अजैन ग्रंथों के मिश्रण से रहित शुद्ध रखते हैं। ऐसे श्रुत के भक्त, श्रुत के मित्र शिष्य, श्रुतज्ञान के योग्य हैं। ऐसे शिष्य सूत्रार्थ की रक्षा करते हैं, वे आगामी

भव में सुलभ-बोधी बनते हैं और स्व-पर को कर्म रोग से मुक्त बनाते हैं। (नन्दीसूत्र पृ. 61)  
अहीर अहीरन का दृष्टांत-

कुछ शिष्य अपना दोष न देखकर दूसरों पर दोष मढ़ने वाले होते हैं। इस विषय में अहीर दम्पति का दृष्टांत है। एक गाँव में एक अहीर अहीरन के साथ रहता था। एक दिन वह बेचने के लिए धी में भेरे हुए घड़े, गाड़ी में रखकर अपनी पत्नी के साथ नगर में पहुँचा। बाजार में गाड़ी रोककर वह घड़े उतारने लगा। अहीर, गाड़ी में से घड़े उठाकर पत्नी को देने लगा और वह पृथ्वी पर रखने लगी।

इस उठाने रखने में दोनों में से किसी की भूल से, धी का घड़ा नीचे गिरकर फूट गया और धी ढुल गया। धी की इस हानि से दुःखी होकर अहीर, अहीरन को गालियाँ देने लगा। जैसे — हा, कुलटा। पर पुरुष से विडम्बना की इच्छावाली। तु नगर के इन तरुण एवं रमणीय युवकों पर मोहित है। तुझे घड़े का ध्यान ही कहाँ है?

इन कठोर वचनों को सुनकर अहीरन को भी क्रोध आ गया। उसकी भौंहें तन गई। उसके ओठ फड़कने लगे। उसने अपनी भाषा में कहा — गाँवार कहीं के। स्वयं ने मुझे घड़ा पकड़ाया ही नहीं और छोड़ दिया। तेरा खुद का मन, नगर की इन मदमाती कामनियों के मनोहर मूर्खड़ों को देखने में लगा है और मुझे कोसता है। यह सुनकर उस अहीर को अधिक क्रोध आया और वह अहीरन की सात पीढ़ीयों को भी गालियाँ देने लगा। तब वह निर्लज्ज स्त्री भी उबल पड़ी। अहीर, स्त्री के केशों को पकड़कर

खिंचने और मारने लगा, स्त्री भी अपने दो-दो हाथ दिखाने लगी। बढ़ते-बढ़ते दोनों ने डंडे सम्हाल लिये। डंडे की मार से दोनों को चोटें लगीं और धी के घड़े भी फूट गये। बहुत-सा धी भूमि पर बह गया और गाय कुत्ते चाटने लगे। उधर गाड़ी में कुछ घड़े बचे थे, उन्हें उचके अपहरण कर गये। परन्तु वे दोनों तो लड़ते ही रहे। अपनी भूल स्वीकार न करके किसी भी प्रकार दूसरों पर दोष मढ़ने की उनकी वृत्ति चलती रही। उनके साथी दूसरे अहीर अपना-अपना धी बेचकर गाँव को लोट गए। जब वे थक गए, तब मध्यस्थियों की बात मानी उनका युद्ध समाप्त हुआ और वे धीरे-धीरे स्वस्थ हुए। उन्होंने आते ही थोड़ा धी बेचा था उसका मूल्य लेकर वे अपने गाँव चले। रात हो चुकी थी, अंधकार फैल गया था। मार्ग में डाकुओं ने उन दोनों को लूट लिया। उनकी गाड़ी और बैल छीन लिए। उनके पास पहनने के वस्त्र भी नहीं रहने दिये। गाँव में पहुँचना दुभर हो गया वहाँ भूखे-प्यासे तड़फ़ कर मर गये। इस प्रकार वे महान् दुःखी हुए। कुछ शिष्य भी इसी प्रकार के होते हैं। कभी आचार्य दो अथवा अधिक शिष्यों के बीच कोई भूल बताते हैं तो वे अपना दोष स्वीकार नहीं करते, परन्तु एक दूसरे के सिर मढ़ना आरंभ कर देते हैं। पहला कहता है — ‘भंते। मैं तो इसको शुद्ध सिखा रहा हूँ, पर यही अशुद्ध बोल रहा है।’ तो दूसरा कहता है कि नहीं, भन्ते। मैं तो जैसा यह सिखाता है, वैसा ही बोलता हूँ, इसलिए मेरा दोष नहीं है, यह खुद अशुद्ध सिखा रहा है, अतएव इसी का दोष है। कुछ शिष्य तो आचार्य पर भी दोष मढ़ने लग जाते हैं। एक शिष्य, एक बार व्याख्यान में कोई विपरीत व्याख्या कर गया। आचार्य ने उससे कहा — ‘यह यो नहीं, यों है, तब शिष्य बोला — ‘उस समय तो आपने मुझे ऐसा ही सिखाया था और अब सुधार का कह रहे हो, सो उसी समय आपको ठीक सिखाना था।’ आचार्य ने कहा — ‘मुनि। मुझे याद है कि मैंने शुद्ध सिखाया था, पर तुम स्मृति दोष या अनुपयोग से ऐसा कह रहे हो।’ आचार्य की बात सुनते ही शिष्य उद्धत होकर बोला — ‘मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि आपने मुझे ऐसा ही सिखाया था। क्या मेरे कान मुझे धोखा दे सकते हैं? अब आप यों सच्चाई से बदलकर मुझे मेरे व्याख्यान में क्यों अपमानित कर रहे हैं?’ आचार्य अवसर को प्रतिकूल देखकर मौन हो गये।

कुछ शिष्य ऐसे होते हैं — जो अपनी भूल हो, तब तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु यदि शिक्षा दाता से ही भूल हो गई है और शिक्षादाता आचार्य, अपनी भूल व्यान में न आने से शिष्य को कुछ कहने लगे, तो वे थोड़ा भी सहन नहीं करते और आचार्य को ही ‘आचार्यत्व कैसे निभाना चाहिए’ — इसकी शिक्षा देना आरंभ कर देते हैं। ऐसे शिष्य, श्रुतज्ञान के अपात्र हैं। ज्ञान, मुख्यतया स्वदोष-दर्शन, सहिष्णुता, विनय आदि गुणों की उत्पत्ति के लिये दिया जाता है। यदि ज्ञान की प्राप्ति से ये गुण उत्पन्न नहीं होकर दोष बढ़ते हों, तो ज्ञान देना सन्त्रिपात वाले को दूध मिश्री देने के समान अहितकारी हो जाता है। ऐसे शिष्य, ज्ञान और चरित्र के भागी नहीं बनते।

कुछ शिष्य, अपना दोष देखने वाले अहीर अहीरन के समान होते हैं। पूर्वोक्त गाँव में दूसरे अहीर दम्पति रहते थे। वे भी नगर में धी बेचने के लिए गये उनमें से एक अहीर के हाथ से भी घड़ा गिरकर फूट जाने पर अहीर कहने लगा — अहो। मैं कितना असावधान हूँ कि घड़े को उचित रीति से नहीं दे सका।' तब अहीरन ने कहा — 'नहीं, नाथ। असावधानी तो मेरी है कि मैंने ही उचित रीति से घड़ा नहीं पकड़ा।' यों दोनों ने घड़ा फूटने में अपनी-अपनी भूल स्वीकार की और गिरे हुए धी को जितना बचा सकते थे — बचाया और अपना काम प्रारम्भ कर दिया। इससे उन्हें अच्छी आय हुई। संध्याकाल को दोनों अन्य अहीर दम्पत्तियों के साथ सकुशल अपने घर लौट गये और सुखी हुए।

ऐसे ही कुछ शिष्य होते हैं जो अपनी-अपनी भूल स्वीकार करते हैं, या आचार्य श्री के द्वारा भूल होने पर भी विनय का पालन करते हैं। जैसे — आचार्य श्री कहें कि शिष्य। उस समय मैंने अनुपयोग से ऐसी व्याख्या कर दी थी, परन्तु अब तुम ऐसा ध्यान रखना, तो वे कहते हैं कि — 'आप भगवंत ने तो ठीक ही कहा होगा, परन्तु मति-दोष से मेरी ही भूल हुई होगी। अथवा आचार्य श्री कभी क्रोध के उदय से शिष्य में भूल न होते हुए भी भूल बतावें कि — 'तुम्हें ऐसा नहीं, पर ऐसा कहना चाहिए, तो वे आचार्य के पूर्व वाक्य-अंश को न पकड़ कर पिछले वाक्यांश को ही ग्रहण करके कहते हैं कि — 'हाँ भगवन्। ऐसा, ही कहना चाहिए। मैं भविष्य में ऐसा ही कहने का उपयोग रखूँगा।' ऐसे विनीत शिष्य ज्ञानदान के भाजन हैं। ये ही श्रुतसमुद्र के पारगामी बन सकते हैं और चरित्र के वास्तव धनी बन मोक्ष पा सकते हैं।

जिजासु इन दृष्टिनों पर गहरा विचार करें और अपनी पात्रता एवं अपात्रता का निर्णय करें। यदि अपात्रता हैं, तो उसे दूर करें, या पात्रता में न्यूनता है तो न्यूनता को दूर करें व पूर्ण पात्र बनकर ज्ञान के पूर्ण भागी बनें। जिनकी अपात्रता दूर हो सकती है, उसे दूर करने का आचार्य श्री प्रयास करते हैं। यदि पात्रता में कमी होती है, तो उसे दूर करने का प्रयास करते हैं और पात्रानुसार ज्ञान देते हैं। (नन्दी सूत्र पृ. 61)

### अयोग्य विद्यार्थी से शिक्षक की क्षति

गर्ग गोत्रोत्पन्न गार्य मुनि स्थविर, गणधर और (सर्वशास्त्र) विशारद थे, (आचार्य के) गुणों से व्याप्त (युक्त) थे गणिभाव में स्थित थे (तथा) समाधि में (स्वयं को) जोड़ने (प्रतिसन्धान करने) वाले थे।

### विनीत वृषभवत् विनीत शिष्यों से गुरु को समाधि

वहणे	वहमाणस्स	कत्तारं	अछवत्तर्दृ।
जोए	वहमाणस्स	संसारो	अइवत्तर्दृ।(2)

उत्तराध्ययन पृ. 456

(गाड़ी आदि) वाहन में जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को हांकते हुए पुरुष का अरण्य (जैसे) सुखपूर्वक पार हो जाता है, उसी तरह योग (-संयम-व्यापार) में (जोड़े हुए सुशिष्यों को) प्रवृत्त करते हुए (आचार्यदि का) संसार भी सुख पूर्वक पार हो जाता है।

अविनीत शिष्यों को दुष्ट वृषभों के विविध रूपों से उपनित

जो खलुंक (दुष्ट अविनीत) बैलों को वाहन में जोतता है, वह (व्यक्ति) उन्हें मारता हुआ क्लेश पाता (थक जाता) है असमाधि का अनुभव करता है और (अन्त में) उस (हांकने वाले व्यक्ति) का चाबुक भी टूट जाता है।

(वह क्षुब्ध वाहक) किसी (एक) की पूँछ काट देता है, तो किसी (एक) को बार-बार बींधता है उन बैलों में से कोई एक जुए की कील (समिला) तो तोड़ देता है, तो दूसरा उन्मार्ग पर चल पड़ता है।

कोई (दुष्ट बैल) मार्ग के एक ओर (दायें या बाँए पाश्व में) गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है, कोई लम्बा लेट जाता है, कोई कूदता है, कोई उछलता (या छलांग मारता) है, कोई शठ (धूर्त बैल) तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

कोई कपटी (मायी) बैल सिर को निढ़ाल बनाकर (भूमि पर) गिर पड़ता है, कोई क्रोधित होकर प्रतिपथ (-उत्पथ या उल्टे मार्ग) पर चल पड़ता है, कोई मृतकवत् होकर पड़ा रहता है, तो कोई वेग से दौड़ने लगता है।

कोई छिनाल (दुष्ट जाति का) बैल रास को तोड़ डालता है, कोई दुर्दान्त को कर जुए को तोड़ देता है और वही उद्धत बैल सूं-सूं आवाज करके (वाहन और स्वामी को) छोड़कर भाग जाता है।

अयोग्य बैल वाहन में जोतने पर जैसे वाहन को तोड़ने वाले होते हैं, वैसे ही धैर्य में दुर्बल शिष्यों को धर्मयान में जोतने पर वे भी उसे तोड़ देते हैं।

### आचार्य गार्य का चिन्तन

(गार्याचार्य-) (मेरा) कोई (शिष्य) ऋद्धि (ऐश्वर्य) को गौरव (अहंकार) करता है, इनमें से कोई रस का गौरव करता है, कोई साता (-सुख) का गौरव करता है, तो कोई शिष्य चिरकाल तक क्रोधयुक्त रहता है।

कोई शिक्षाचारी करने में आलसी है, तो कोई अपमान से डरता है तथा कोई शिष्य स्तब्ध (अहंकारी) है, किसी को मैं हेतुओं और कारणों से अनुशासित करता (शिक्षा देता) हूँ (फिर भी वह समझता नहीं।)

इतने पर भी इस बीच में बोलने लगता है, (गुरु के वचन में) दोष निकालने लगता है, आचार्यों के उस (शिक्षाप्रद) वचन के प्रतिकूल बार-बार आचरण करता है। (किसी के यहाँ से भिक्षा लाने के लिये कहता है तो कोई शिष्य उत्तर देता है-) वह (श्राविका) मुझे नहीं जानती (पहचानती), अतः वह

मुझे देगी भी नहीं। (अथवा कहता है-) मैं समझता हूँ, वह घर के बाहर चली गई होगी। अथवा-इसके लिये कोई दूसरा साधु जाये। (किसी प्रयोजन विशेष से) भेजने पर (बिना कार्य किये) बापस लौट आते हैं, (अथवा अपलाप करते हैं), यों वे इधर-उधर चारों ओर भटकते रहते हैं। किन्तु गुरु की आज्ञा का राजा के द्वारा ली जाने वाले वेठ (बेगार) की तरह मान कर भूकुटि चढ़ा लेते हैं।

वाइया संगहिया चेव भत्तपाणे य पोसिया।

जायपक्खा जहा हंसा पक्कमन्ति देसोदिसि। (14)

जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं, वैसे ही शिक्षित एवं दीक्षित किए हुये, पास में रखे हुये तथा भक्त-पान से पोषित किये हुये कुशिष्य भी (गुरु को छोड़कर) अन्यत्र (विभिन्न दिशाओं में) चले जाते हैं।

अह सारही विचिन्तेह खलुंकेहिं समागओ।

कि मच्छ दुड़सिसेहिं में अवसीर्यई। (15)

ऐसे अविनीत शिष्यों से युक्त धर्मयान के सारथी आचार्य खिन्न होकर सोचते हैं-मुझे इन दुष्ट शिष्यों से क्या लाभ? (इनसे तो) मेरी आत्मा अवसर्व ही होती (दुःख ही पाती) है।

जैसे गलिगर्दभ (आलसी और निकम्मे गधे) होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं। (ऐसा सोचकर गार्याचार्य ने) गलिगर्दभरूप शिष्यों को छोड़कर दृढ़ तपश्चरण (उग्र बाह्याभ्यान्तर तपोमार्ग) स्वीकार किया।

मित-मद्वसंपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए।

विहरड महिं महप्पा सीलभूएण अप्पणा। (17)

(उसके पश्चात्) मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर, सुसमाहित एवं शीलभूत (चारित्रमय) आत्मा से युक्त होकर वे महात्मा गार्याचार्य (अविनीत शिष्यों को छोड़कर) पृथ्वी पर (एकाकी) विचरण करने लगे।

गार्याचार्य के द्वारा 'गलिगर्दभ' शब्द का प्रयोग उक्त शिष्यों की दुष्टता एवं नीचता बताने के लिए किया गया है। प्रायः गधों का यह स्वभाव होता है कि मदंबुद्धि होने के कारण बार-बार अत्यन्त प्रेरणा करने पर वे चलते हैं या नहीं चलते, इसी प्रकार गार्याचार्य के शिष्य भी बार-बार प्रेरणा देने पर भी सन्मार्ग पर नहीं चलते थे, ढीठ होकर उल्टा-सीधा प्रतिवाद करते थे, वे साधना में आलसी और निरुत्साह हो गए थे, इसलिये उन्होंने सोचा कि 'मेरा सारा समय तो इन्हीं कुशिष्यों को प्रेरणा देने में चला जाता है, अन्य साधना के लिये शान्त वातावरण एवं समय नहीं मिलता, अतः इन्हें छोड़ देना श्रेयस्कर है, यह सोचकर वे एकाकी होकर आत्मसाधना में संलग्न हो गये।

सुयोग गुणों से व्यक्ति गुणी/योग्य/महान् बन जाता है दुरुणों से व्यक्ति अयोग्य बन जाता है।

कौनसे कौनसे दुरुणों के कारण विद्यार्थी कुविद्यार्थी बन जाता है इसका वर्णन प्राचीन शिक्षाविद् आचार्य

ने निम्न प्रकार से किया है —

थद्वा छिदप्पेही अवन्नवाईं सयंमईं चवला।  
पंका कोहणसीला सीसा उव्वेअगा गुरुणो। (74)

(श्री उपदेश माला पृष्ठ 251)

‘इस गाथा में कुशिष्य का लक्षण बताया है। स्तम्भ की तरह अखड़ा या अविनीत, सदा अभिमान में रहने वाला दूसरों के छिद्र देखने वाला, दूसरों में जो दोष नहीं हो, उनको भी कल्पना से गढ़ कर कहने वाला, स्वच्छन्द्र चलने वाला, चंचल स्वभाव वाला, वक्र और बात-बात में क्रोध करने वाला शिष्य शान्त स्वभावी गुरु को भी उद्धिग्र (झुंझलाने वाला) बना देता है।’

जस्स गुरुमि न भत्ती, न य बहुमाणो न गाउरवं न भयं।

नवि लज्जा नहि नेहो गुरुकुलवासेण किं तस्य॥ (75)

‘जिस शिष्य में गुरु महाराज के प्रति न तो विनय-भक्ति हो, न बहुमान हो, यानी हृदय में प्रेम न हो, न गुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो, और न ही भय, लज्जा या किसी प्रकार का स्नेह हो ऐसे शिष्य के गुरुकुलवास में रहने या रखने से क्या लाभ है? अर्थात् ऐसा दुर्विनीति शिष्य का गुरु के पास रहना या रखना व्यर्थ है।’

रुसई चोइजंती, वहइ हियएण अणुसयं भणिओ।

न य कहिं करणिजे गुरुस्स आलो न सो सीसो॥ (76)

‘जो शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर रोष करता है, सामान्य हितशिक्षा देने पर भी गुरु के सामने बोल कर उन्हें डांटने लगता है, तथा जो गुरु के किसी काम में नहीं आता, वह शिष्य नहीं है। वह तो केवल कलंक-रूप है। जोसद् शिक्षा ग्रहण करे, वही शिष्य कहलाता है।’

अयोग्य को शिक्षा देने का फल

उपदेशों हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।

पथः पानं हि भुजगानं केवलं विषवर्धनम्॥

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, न कि शान्ति के लिए। जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है।

उपदेशो न दातव्यो याद्वशे ताद्वशे जने।

पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निगृही कृतः। (421)

जैसे-तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए। देखो, मूर्ख बन्दर ने एक उत्तम गृहस्थ को घर से शून्य (बेघर) बना दिया।

किसी वन के एक प्रदेश में शमी का एक वृक्ष था। उसकी लम्बी शाखा (डाल) में घोंसला बना कर चटक-चटका (गौरिया और उसकी स्त्री) रहा करते थे। किसी समय जब वे आनन्द से बैठे हुए थे कि हेमन्त क्रतु का बादल धीर-धीरे बरसने लगा। इसी समय हवा के झकझोर से युक्त वर्षा की धारा से ताड़ित (वर्षा के जल से भींगे हुए शरीरवाला), दन्तवीणा (कटकटाते दाँत रूपी वीणा) बजाता हुआ और काँपता हुआ कोई बन्दर उसी शमी वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया। उसकी उस प्रकार की दशा देखकर चटका ने कहा — हे सौम्य !

तुम तो हाथ और पैर से युक्त होने के कारण पुरुष के समान देखने में आते हो। तब शीत (ठण्डक) से कष्ट क्यों पा रहे हो, और मूर्ख ! निवास के लिए घर क्यों नहीं बना लेता ?

उसे सुनकर बन्दर ने क्रोधपूर्वक कहा — 'अरी अधमे ! तू चूप क्यों नहीं रहती ? अत्यधिक आश्चर्य की बात है, इसकी धृष्टा (ठिठाई) तो देखो। यह मेरा उपहास कर रही है।

सुई के सदृश मुँहवाली, व्याभिचारिणी, धूर्ता और अपने को विदुषी कहने वाली बकवाद करती हुई यदि यह नहीं आशंकित होती (डरती) है, तो मैं क्यों न इसे मार डालूँ ?

वाच्यं	श्रद्धासमेतस्य	पृच्छतेश्च	विशेषतः
प्रोक्तं	श्रद्धाविहीनस्य	अरण्यरुदितोपमम् ॥(424)	

विशेष श्रद्धा से युक्त होकर यदि कोई जानने की इच्छा से पूछे तो उससे बात करनी चाहिए। श्रद्धारहित मनुष्यों से कुछ कहना वन में रोने के समान (निरर्थक) है।

सो बहुत कहने से क्या प्रयोजन ! ज्यों ही कुलाय (घोंसले) में बैठी हुई उस (चटका) ने पुनः कहा त्यों ही शमी वृक्ष पर चढ़कर उसके कुलाय (घोंसले) को सौ टुकड़े कर दिये।

### शिक्षा का दुरुपयोग

एक वृद्ध पण्डित अपने पुत्र को पढ़ाते थे कि —

मातृवत्	परदारेषु	पर	द्रव्येषु	लोष्टवत् ।
आत्मवत्	सर्वभूतेषु	यः	पश्यति	स पण्डितः ॥

- पिता — पढ़ो बेटा पढ़ो — 'मातृवत् परदारेषु'।
- पुत्र — इसका क्या अर्थ हुआ ?
- पिता — पराई स्त्री को माता के समान जानना चाहिए।
- पुत्र — तब तो पिताजी मेरी स्त्री भी आपकी माता होगी।
- पिता — छिः छिः, क्या ऐसा कहना चाहिए ? पढ़ो — 'पर द्रव्येषु लोष्टवत्'।
- पुत्र — इसका अर्थ क्या हुआ ?
- पिता — पराये द्रव्य (धनादिक) को मिट्टी के ढेले के समान जानना चाहिए।

- पुत्र — तो अब दुष्ट हलवाई को मिठाई के दाम नहीं दूंगा, क्योंकि बरफी, पेड़े आदि मिट्टी के ढेले के समान वस्तु के दाम ही क्या?
- पिता — धिक्-मूर्ख! अधिक समझ के पढ़, आगे भावार्थ स्पष्ट हो जाएगा पढ़ — आत्म वत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सं पण्डितः।
- पुत्र — इसका अर्थ क्या हुआ है?
- पिता — जो अपने समान सबको देखता है, वह पण्डित है।
- पुत्र — तब तो अच्छी बात है, सब को ही अपने ही समान समझेंगे पराई वस्तु और पराई स्त्री भी अपनी ही समझनी चाहिए।
- पिता — अरे, जो मूर्ख के मूर्ख! इसी बुद्धि पर धर्मशास्त्र पढ़ना स्वीकार किया है। इससे तो खोमचा रखना सीख ले, तो घर का पालन तो होता।
- पुत्र — हठ वे मूर्ख पाजी।  
पिता ने थप्पड़ मारा और पुत्र लड़कों में खेलने भाग गया। एक नवयुवा स्त्री गंगाजी को घड़ा लेकर जल भरने जाती थी। इतने में वह धर्मशास्त्र-शिक्षित बालक आया और उससे बोला—‘अम्मा, अरी अम्मा।’
- स्त्री — बोली—क्यों बेटा, (मन-ही मन आहा। इस लड़के की कैसी प्यारी बोली है।)
- बालक — —क्यों री अम्मा, चीज खाने को एक पैसा तो दे।
- स्त्री — बेटा, मैं तो आप दुखिया हूँ, पैसा कहाँ से लाऊं, घर-घर पानी भर कर पेट पालती हूँ।
- बालक — —अरी राड़, पैसा क्यों नहीं देती? भला-चाहती है, तो जल्दी दे, नहीं तो पीटता हूँ।
- स्त्री — —यह कैसा बालक है, जो गालियाँ देता है।
- बालक — —नहीं देगी? हरामजादी (लात मारी और घड़ा फोड़ डाला)।

इतने में गंगा स्नान से लौटकर उस बालक का पिता का घर आता था, सो यह चरित्र देखकर बोला—‘क्यों रे बदमाश पुत्र!’ पुत्र बोला, सो यह भी तो मेरी माँ हैं, जो माँ के साथ किया करता हूँ, सोई इसके साथ करता हूँ। क्योंकि आपने सबै पढ़ाया ही था। ‘मातृ-वत्परदारेषु।’ और स्त्री की तरफ देखकर बोला—‘क्योंरी अम्मा पिता को देखकर धुंघट नहीं काढ़ती। क्या तु मेरी माँ है, तो मेरे पिताजी की भी माँ है?’

### मूर्ख स्वयं अपना शत्रु बनता है

राजगृह में सुप्रबुद्ध नाम का एक महादरिद्र, दुःखी और असहाय कोड़ी था। एक दिन जब भगवान वेणुवन विहार में बड़ी परिषद के बीच बैठे उपदेश कर रहे थे, तब वह भी वहाँ गया और किनारे बैठ कर उपदेश सुनने लगा। उपदेश को सुनकर उसे ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने स्नोतापति फल को प्राप्त कर लिया। अन्त में जब सब लोग चले गये तब वह भगवान के पास जाकर बैंदना कर, शरण शील

ले नगर की और लौटा। रास्ते में एक साँड़ ने उसे पटक कर जान से मार डाला। वह मर कर तावतिंस-भवन में उत्पन्न हुआ।

इस समाचार को पाकर सन्ध्या को भिक्षुओं ने भगवान से पूछा—

‘भन्ते। सुप्रबुद्ध कहाँ उत्पन्न हुआ है?’

‘तावतिंस भवन में।’

‘भन्ते। क्या कारण था कि सुप्रबुद्ध कोड़ी इतना दीन-हीन और असहाय था?’

‘भिक्षुओं। उसने पूर्व जन्म में नगर शिखी प्रत्येक बुद्ध को देखकर थूक फेंककर ‘यह कौन कोड़ी जा रहा है?’ कहा था उसी पाप-कर्म से बहुत दिनों तक नरक में पक्कर उस कर्म विपाक के अवशेष से कोड़ी हुआ था। भिक्षुओं! ये प्राणी अपने ही अपने लिये कड़वा फल देने वाले कर्म करते हुए विचरण करते हैं।’ भगवान ने यह कहकर इस गाथा को कहा—

चरन्ति बाला दुम्पेधा अमिन्तेनेव अन्तना।

करोन्तो पापकं कर्मं यं होती कटुकरफलं।(7)

धर्मपद पृ.न. 41

दुर्बुद्धि मूर्ख अपना शुत्र स्वयं होकर पाप कर्म करते हुए विचरण करता है, जिसका फल कड़वा होता है।

## ज्ञान-मद से अज्ञानी एवं स्वाध्याय से ज्ञानी

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन् स्वाध्यायादिस्वयंकृतैः।

मुनिनिन्दास्मौगृध्योपि यमः सप्तर्द्धिभूरभूत्॥(सागारधर्ममृत श्लो.80 पृ.486

यम नाम के राजा ने राज त्याग कर दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु मुनिनिन्दा से बाँधे हुए कर्म के उदय से उनको मूढ़ता प्राप्त थी। फिर वह निरंतर अपने द्वारा बनाये हुए निम्नलिखित तीन खण्ड श्लोकों के द्वारा निरंतर स्वाध्याय करते थे। जिसके प्रभाव से उनको तपर्दि, बुद्धि, क्रद्धि, विक्रियाद्धि, औषधक्रद्धि, रसद्धि, बलद्धि, अक्षीणमहानसर्द्धि ये सात क्रद्धियाँ प्राप्त हुई थीं।

तीन खण्ड श्लोक

कंडसि पुण्यं सेवसि रे गंदहा जवं पत्थेसि खादिदुं।

अण्णत्थ किं फलोवहा तुम्ही इत बुद्धिया छिदे।

अंके ध्येदङ्क कोणिय।

अम्हादो णंदिभयं दिहादेदिसराभयं तुहा।

इन श्लोकों के तीन अर्थ होते हैं—

पहिला—रे गर्दभ! तू इस हो भेरे जौ के खेत को खायेगा तो पश्चात्ताप होगा, मालिक खाने नहीं देगा, मार पड़ेगी।

राजपुत्र की तरफ—रे गर्दभ ! राजपुत्र तू खायेगा अर्थात् मारेगा तो पश्चात्ताप होगा ।

रे मनरूपी गर्दभ ! इन ऊपर से सुन्दर दिखने वाले और जिनका परिपाक हालाहल विष के समान है ऐसे यह विषयभोगरूपी जौ को खाने का प्रयत्न करेगा तो पश्चात्ताप होगा । विष सेवन करने से किसी को भी शांति प्राप्त नहीं होती है । आकुलता बढ़ती ही है ।

### दूसरे श्लोक का अर्थ

हे बच्चों ! तुम्हारे बुद्धि में पथर गिर गये क्या—तुम्हारी कोणिका अर्थात् गेंद तुम्हारे पास वाले गड्ढे में पड़ी है तुम इधर-उधर क्या देखते हो ।

स्वाध्याय—रे मनरूपी बालक ! तुम्हारा (कोणिका) सुख तुम्हारे भीतर ही है, इधर-उधर बाहरी पदार्थों में सुख मानकर क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहा है ।

रे बालक ! तुम्हारी (कोणिका) बहिन तुम्हारे पास वाले गड्ढे में अर्थात् तलघर में है, तुम इधर-उधर क्या देख रहे हो ।

रे मेढ़क ! तू मेरे से भय मत कर—तौरे पीछे वाले सर्प से भय कर ।

हे आत्मन ! तू अपने स्वरूप से भय मत कर—अपने पीछे लगे हुये रागद्वेषादि विकारों से भय कर—यही तुझे दुःख देने वाले हैं ।

रे गर्दभ ! राजपुत्र ! तू मेरे से भय मत कर—तौरे पीछेवाले से (अर्थात्) मंत्री से भय कर ।

इन तीन अर्थ वाले श्लोक से यममुनि निरन्तर स्वाध्याय करते थे । हर समय इसी का पाठ करते थे । जिससे उनको सप्त क्रदियाँ प्राप्त हुई और अन्त में मोक्षपद को प्राप्त किया । इसलिये हरेक प्राणी का कर्तव्य है कि—

‘स्वाध्यायः परमं तपः’ इस उक्ति से निरन्तर स्वाध्याय करने का प्रयत्न करे । शास्त्र श्रवण-मनन-चिन्तवन से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ।

### यम मुनि की कथा

पाठक ! श्री यममुनि कैसे थे, अल्पबुद्धि के ज्ञानी ।

कैसे मुक्ति नारि वे पाये, पढ़ लो वही कहानी ॥

गुरुदेव के चरणों में मैं, नमस्कार करता हूँ ।

जो सुख को देने वाली है, ऐसा ही लिखता हूँ ॥

उड्ह देशान्तर्गत धर्म नामक नगर में राजा यम राज्य करते थे । उनकी रानी का नाम धनवती था । उसके पुत्र का नाम था गर्दभ और कन्या का नाम था कोणिका, वह अत्यन्त सुन्दरी थी । राजा यम के राजमहल में अन्य रानियाँ थीं, जिसके पाँच सौ पुत्र थे । वे सबके सब वैरागी थे, संसारी माया में उनका तनिक भी मन नहीं लगता था । राजा यम के यहाँ दीर्घ मंत्री था । इस प्रकार उनका समय सुख-शान्ति के बीतता था ।

## कोणिका का भाग्य

एक दिन राज-ज्योतिषी ने कोणिका की भाग्य गणना कर बताया कि यह कन्या जिससे व्याहेगी वह समस्त संसार का सम्राट होता। राजा यम ने कन्या के भाग्य की बात सुनकर उसे यत्न से रखना प्रारम्भ किया, जिसमें कोई छोटे-मोटे बलवान राजा न देख लें।

राजा मुनिसंघ से पराजित हुआ— उसी समय श्री सुधर्मचार्य का संघ वहाँ आ गया, जिसमें पाँच सौ मुनि थे। वे संसार के हित-साधनार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर रहे थे। नगर के समस्त निवासी मुनि संघ के शुभागमन का समाचार सुन उनकी पूजा तथा धर्मोपदेश सुनने चले। राजा यम को अपनी विद्धता का घमण्ड था। वह भी मुनियों की निन्दा करता हुआ वहाँ जा पहुँचा। किन्तु उसके हृदय में अभिमान के भाव उदित होने के कारण, उसके बुरे कर्म के उदय होने से वह महामूर्ख बन गया। उसकी विद्धता, बुद्धि की चमकता का लोप हो गया। अतः राजा यम उसी समय मूर्खाधिराज बन गये। सच है—

उत्तम जन ज्ञानी बनने से , ज्ञान गर्व नहि करते हैं।

ज्ञान-रत्न को पाकर वे ही सदा नम्रता धरते हैं॥

जो निजबल, ऐश्वर्य, जातितप ऋद्धि योग पर इतराते।

निश्चय जानों गर्व, दुःख से वे ही महा दुःख पाते।

अतः श्रेय के इच्छुक को अभिमान नहीं करना चाहिये।

गर्व दुःख की महा खान है, उससे दूर सदा रहिये॥

उसी समय राजा यम दन्तरहित हाथी के समान निर्थक हो गये। अब उन्हें होश आया। उनका सारा मिथ्याभिमान दूर हो गया। उन्होंने उसी समय भगवान के पवित्र चरणों में नमस्कार कर धर्मोपदेश सुना। अतः राजा का हृदय अभिमानरहित हो गया।

### वैराग्य धारण

धर्मोपदेश सुनने का यह असर हुआ कि राजा यम के हृदय में संसार के भोग-विलास से पूर्णरूपेण वैराग्य उदय हो गया। राजा ने उसी समय अपने पाँच सौ वैरागी पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। राज्य-शासन भार गर्दभ नामक पुत्र के ऊपर पड़ा। राजा यम मूर्ख बने रहे, उन्हें पंच नमस्कार मंत्र का शुद्ध उच्चारण तक नहीं आया जब कि उनके पाँच सौ लड़के शास्त्राभ्यास द्वारा पूर्ण विद्वान बन गये। इससे यम मुनि के हृदय में बहुत दुःख हुआ। उन्होंने गुरुदेव की आज्ञा लेकर तीर्थ-दर्शन करने के लिये प्रस्थान किया। उन्हें मार्ग में एक रथ मिला जिसमें गधे जुते हुये थे। उस पर एक आदमी बैठा हुआ पुरुष यममुनि को कष्ट दे रहा था।

मुनिराज ने ज्ञान के क्षयोपशम हो जाने से निम्नलिखित पद्य कहा—

‘कट्टसि पुणणिक्खेसिरे गहहा जवपेच्छसि खादिदुमिति’

अर्थात्—ओर गदहे! कष्ट उठाने के बाद ही तुम्हें खाने को मिलेगा। यममुनि आगे चले तो क्या देखते हैं कि एक स्थान पर कुछ लड़के खेल, खेल रहे हैं। उसी समय कोणिका भी किसी तरह चली आयी। कोणिका को देखकर सब लड़के भयभीत हो गये। तब मुनि ने आत्मा के प्रति निम्न गाथा की रचना की।

‘आणणत्व किं पालोवह तुम्हे पत्थणि बुद्धि या छिदे अच्छई कोणिका इति।’

बालकों! तुम दूसरी और क्या देख रहे हो, तुम्हारी बुद्धि पत्थर के समान है उसे छेदने वाली कोणिका मौजूद हैं। इसी प्रकार एक दिन मुनिराज ने एक मेंढक को कमल पत्र की ओट में छिपते हुए सर्प को उसी ओर आते देख उसी समय उन्होंने कहा—

‘अम्हादोत्थि भयं दिहादो दीसदे भयं तुम्हेति।’

मुझे अपने प्राणों का तनिक भी भय नहीं हैं, डर तो तुम्हे ही है।

#### पुत्र का प्रकोप

इस प्रकार यममुनि उपरोक्त तीनों पाठ का अध्ययन करते थे उन्हें इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं आता था। तीर्थ यात्रा करते हुए वे धर्मपुर में जा पहुँचे, वे नगर के बाहर बगीचे में ठहर गये। उस बगीचे में यम महामुनि अपने कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गये। जिस समय यम महामुनि के आने का समाचार उनके पुत्र राजा गर्दभ तथा मन्त्री दीर्घ ने सुना तब उसके दिल में पाप हुआ कि वे (मुनि) हमारा राज्य बापस लेने आये हैं। दोनों ने मुनिराज को मार डालने के विचार से आधी रात्रि को प्रस्थान किया। दोनों वहाँ पहुँच गये जहाँ यममुनि ध्यान में लीन थे। दोनों ने मुनि के ऊपर अपनी तलवार खींच ली।

किसी ने सच ही कहा—

जान लो पाठक जगत में राज्य वह धिकार है।

मूर्खता है नृपति की औ समझ को धिकार हैं।

वीतरागी राज्य लेगा भयभीत जो होता जहाँ।

धिकार है उस बुद्धि को जो समझ लेती है अहा॥

त्याग कर के राज्य वैभव शुभयोग का बाना लिया।

आश्चर्य उस मुनिराज पर निज पुत्र ने शंका किया।

राजा गर्दभ तथा उसके मन्त्री ने बार-बार अपनी तलवार तानी, मगर, मुनिराज की गर्दन पर चलाने का उन्हें साहस नहीं हुआ। कई बार उन लोगों ने कुचेष्टा की मगर वे हर बार पस्त हिम्मत रहे। उसी समय यममुनि ने अपनी पहली गाथा का पारायण किया, उसे सुनकर राजा गर्दभ डर गया। वह सोचने लगा-ज्ञात होता हैं कि मुनिराज ने हमें देख लिया। मुनिराज ने उसी समय अपनी दूसरी गाथा कही। अब गर्दभ को निश्चय हो गया कि ये हमारा राज्य लेने नहीं आये हैं, बल्कि अपनी कन्या कोणिका

को प्यार जताने आये हैं। मुनिराज की तीसरी गाथा सुनकर उसने अपने मन में निश्चय किया कि मेरा मन्त्री ही मेरी जान का दुश्मन है। मेरे पूज्य पिता तो मुझे सतर्क करने आये हैं। वह हाय-हाय करने लगा। इसके बाद उसने अपने पूज्य यम महामुनि से धर्मोपदेश सुनकर श्रावक ब्रत ग्रहण कर लिया।

### अन्तिम परिणाम

यमधर मुनिराज ने अपनी कठिन तपस्या के बल से सातों ऋद्धियाँ प्राप्त कर ली। पाठक गण ! जब अल्प बुद्धि वाले यमधर महामुनि ने उन्नति की चरम सीमा को पार कर दिया तब यदि अन्य श्रेष्ठ लोग श्रद्धा-भक्ति से सम्यकज्ञान की सतत आराधना करें तो ऐसी कौनसी अलभ्य वस्तु है जिसकी प्राप्ति न हो? पाठक गण ! आप लोग भी ख्याल करें कि यमधर महामुनि ने अल्पज्ञानी होकर जब सातों ऋद्धियों को प्राप्त कर लिया तब आप लोगों को भी उचित है परमपवित्र सम्यकज्ञान को पाने को उपाय करें जिससे स्वर्ग सुख का साधन प्राप्त हो।

### मिथ्या कपोल कल्पना से सत्य का बोध नहीं होता

एक चिड़िया एक वृक्ष पर कुछ बोल रही थी। वृक्ष के समीप एक मेला लगा हुआ था, जिसमें सभी कौंम के लोग उपस्थित थे। लोगों ने पूछा—‘भई बोलो, यह चिड़िया क्या कह रही है?’ उनमें प्रथम मुसलमान लोग बोले कि चिड़िया बोल रही है—‘सुभान तेरी कुदरत।’ हिन्दुओं ने कहा कि यह नहीं, बल्कि चिड़िया बोलती है—‘राम लक्ष्मण दशरथ।’ और बनियों ने कहा कि वाह जनाब, यह क्या कहते हो, चिड़िया बोल रही है—‘हल्दी मिरचा ढक रख।’ यह सुनकर कसरती लोग बोले कि वाह, यह आपने खूब कही, चिड़िया यह नहीं बोलती, बल्कि चिड़िया बोलती है—‘दण्ड बैठक कसरत।’ इसके बाद तंबोलियों ने कहा कि चिड़िया यह नहीं बोलती बल्कि चिड़िया बोल रही है—‘पान पत्ता अदरक’ अब सूत कातने वाली बुद्धियों ने कहा कि चिड़िया बोलती है—‘चरखा पौनी चमरख।’ और माली बोले कि चिड़िया यह नहीं बोलती, बल्कि चिड़िया बोलती है—‘नीबू नारंगी कमरख’ [दृष्टान्त सागर पृ. 116]

### अल्पज्ञता से हठ ग्राहीता

शुक्लां	बरधरं	विष्णुं	शशिवर्ण	चतुर्भजम् ।
प्रसन्न	वदनं	ध्यायेत्	सर्व	विहनोपशान्तये ।

इस श्लोक के अर्थ में एक पण्डितजी ने एक राजा साहब को “रूप्या” बतलाया और इस प्रकार अर्थ किया कि ‘शुक्ला बरंधर’ यानी रूप्या सफेद-सफेद होता है, ‘विष्णुं’ जो चर-अचर में व्यापक हों, वह विष्णु कहावे, रूप्ये के बिना किसी का काम नहीं चलता। इससे वह व्यापक है। ‘शशिवर्ण’ गोल-गोल चन्द्रमा सा होता है, चतुर्भजम् चार चवन्नी होती हैं इसलिए चतुर्भज भी है। ‘प्रसन्नवदनं’ वह चमचमाता है। ‘ध्यायेत्’ इस रूप्ये के धारण करने से सम्पूर्ण विघ्न-शान्त हो जाते हैं। उस दिन से जो पण्डित इन राजा साहब के पास आता तो उससे राजा साहब यही श्लोक पूछा करते थे। जब पण्डित इसको विष्णु

की स्तुति में से लाता यानि ठीक-ठीक अर्थ कोई करता तो राजा साहब कहते कि यह अर्थ गलत है और अपने को तथा अपने गुरु को बहुत कुछ धन्यवाद दिया करते थे। बहुत काल के बाद एक पण्डित राजा के यहाँ आये। उनके आते ही राजा ने वही प्रश्न किया। पण्डित जी ने राजा का रूपये वाला अर्थ जान लिया था, इसीलिए राजा के पूछते ही कह दिया—‘महाराज इसका अर्थ रूपया है।’ राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा—‘इतने दिन पर हमारे गुरु के बाद पण्डित आप ही मिले हो।’ तब तो इन दुसरे पण्डित जी ने कहा—महाराज, इसका एक अर्थ हम और आपको बतावें, जो कोई न जानता हो। राजा साहब ने कहा ‘बताइये।’ पण्डित ने कहा—इसका अर्थ ‘दही बड़ा’ भी हो सकता है। देखो ‘शुक्ल बरधरं’ दही-बड़ा सफेद-सफेद होता है, ‘विष्णु’ व्यापक है ही यानि सब कोई खाता हैं, ‘शशिवर्ण’ गोल-गोल होता ही है, ‘चतुर्भुजम्’ चतुरों के खाने योग्य अर्थात् चतुर ही इसे खाते हैं, ‘प्रसन्नवदनं’ फूल हुआ होता है। और इसके धारण अर्थात् खाने से सम्पूर्ण विघ्न शान्त हो जाते हैं। राजा यह अर्थ सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और पण्डित को बहुत कुछ दक्षिणा दे विदा किया। यह बड़े का अर्थ करने वाला पण्डित विद्वान् था, उसे हृदय में यह शोक हुआ कि देखो यह राजा कैसी मूर्खता में फसा है। अतः इससे इसे निकलना चाहिए। ऐसा विचार कर राजा के यहाँ ठहरकर राजा को पढ़ाने लगा। थोड़े काल में राजा साहब को अष्टाध्यायी, महाभाष्य और कुछ काव्य पढ़कर एक दिन राजा साहब ने कहा कि—

शुक्लां वरधरं शशिवर्ण चतुर्भुजम् ।  
प्रसन्नवदनं ध्यायते सर्वं विघ्नोपशान्तये ।

इसका क्या अर्थ—रूपया या दही बड़ा? राजा साहब ने कहा—‘महाराज इसका असली अर्थ तो इन दोनों में एक भी नहीं। पण्डित ने कहा—‘हम प्रथम यदि इसका और-और अर्थ बतलाते, तो क्या आप कभी मानते?’ [दृष्टान्त सागर पृ. 135]

### शाब्दिक ज्ञान से अनर्थ

बुद्ध्यैव विद्या सफला फलप्रदा, अबुद्धि विद्या विफलाऽफलप्रदा ।  
यथापि मूढाश्चतुरोऽपि संगता, गतः प्रदेश त्वधनाः पुरावपि ॥

[दृष्टान्त सागर पृ. 90]

बुद्धि ही से विद्या सफल होती है और बुद्धि से रहित विद्या व्यर्थ होती है। यथा।

एक ज्योतिषी, एक वैद्य, एक नैयायिक और एक वैयाकरणी ये चारों द्रव्य-प्राप्ति की आशा से विदेश को निकले। ये चारों मनुष्य पण्डित थे, तथापि बुद्धि से शून्य थे। चलते-चलते जब वे बहुत दूर निकलकर एक राजा के राज्य में पहुँचे, तो ग्राम में बाहर बैठकर आपस में सम्मति की कि मुहूर्तपूर्वक ग्राम में चलना चाहिये। अतः सबों ने कहा—‘महाराज ज्योतिषीजी कोई ऐसा मुहूर्त निकालिये कि जिसमें चलते ही सिद्धि प्राप्त हो।’

ज्योतिषीजी महाराज ने मीन, मेष, वृष, मिथुन करके कहा—‘रात में दो बजे ऐसा मुहूर्त है कि चलते की कार्य सिद्ध होगा।’ जब दो बजे रात को चलना है, तो कुछ भोजनादि का प्रबन्ध करना चाहिए।

अतः यह सम्मति हुई की भोजन के लिए वैद्यजी को भेजना उचित है, क्योंकि ये सम्पूर्ण पदार्थों के गुण-दोष जानते हैं, इससे ये उत्तम पथ्य रूप भोजन लायेंगे। यह भी सम्मति हुई कि साथ में नैयायिक को जाना चाहिए, क्योंकि यदि ये साथ होंगे, तो तर्क-वितर्क से ही भोजन ठीक आयेगा। ऐसा सोचकर इन दोनों महाशयों को भोजन लेने के लिए भेजा।

अब तो वैद्यजी सोचने लगे कि अमुक पदार्थ ले चलें, तो वह कफ वर्द्धक हैं, अमुक ले चलें, तो वातवर्द्धक है और अमुक ले चलें, तो पित्तवर्द्धक है। यह सोचते ही थे कि वैद्यजी को याद आया 'सर्व रोगहरो निम्ब' इसलिए नैयायिक जी से कहा—'नीम के पत्ते सर्वरोग नाशक हैं। चलिए, इन्हें तोड़ें।' निदान दो गड्ढे नीम के पत्ते तोड़े गये। वैद्यजी ने कहा—जब तक मैं इन्हें बांध रहा हूँ, तब तक आप हाट से घृत लेते आइये। नैयायिक जी घृत लेने गये।

हाट में घृत लेकर मार्ग में चले आते थे कि अनायास ही इनके मन में शंका उत्पन्न हुई कि 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतं' अर्थात् घृत के आधार पात्र हैं या पात्र के आधार घृत है। पुनः सोचा कि 'प्रत्यक्षस्य किं प्रमाणम्?' यह विचार कर पात्र औंधा कर दिया। सम्पूर्ण घृत भूमि पर गिर पड़ा। खाली पात्र ले वैद्य के पास आये। वैद्यजी ने पूछा—'घृत ले आये?' तब उन्होंने सम्पूर्ण वृतान्त वैद्यजी को कह मुनाया। दोनों नीम के पत्तों के गड्ढे सिर पर रखते हुए पूर्व स्थान पर आ विराजे।

अब तीन तो अपना-अपना काम कर चुके, रहे व्याकरणीजी। उनसे कहा गया—'अब आप इसे पकाइये।' व्याकरणीजी कुम्हार के यहां से दो नांद लेकर और उनमें नीम के पत्ते भर चार-चार घड़ा जल डालकर उबालने लगे। जब नीम के पत्ते बुड़-बुड़ चुरने लगे, तब तो व्याकरणी जी ने कहा—'अशुद्धं न वक्तव्यं, अशुद्धं न वक्तव्यं' परन्तु जड़ नांद या जल क्या सुनता, कैसे चुप होता? जब वह बड़-बड़ होता ही गया, तो व्याकरणी जी ने क्रोध में आ पात्र भूमि में दे मारा और कहा—'अशुद्धं किं वक्तव्यं?'

अतः चारों तमाम दिन भूखे रहे। रात के दो बजे राजा के शहर पनाह का फाटक बन्द हो गया। दूत पहरा देने लगे। उस समय उनका मुहर्त आया। जब ये चारों शहर को चले, तो वहाँ फाटक के किवाड़ बन्द पाकर बोले—'फाटक की खिड़की अवश्य तोड़नी चाहिए, क्योंकि इस समय में प्रवेश करने से बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी। अतः चारों ने ज्योंही फाटक की खिड़की को तोड़ा, त्योंही राजदूत उन चारों को पकड़ ले गये और राजा के यहाँ से छह-छह मास का कठिन कारागार हुआ। यह सिद्धि प्राप्त हुई। कहिये, इस विद्या पढ़ने से क्या फल हुआ? महाकवि बिहारी लाल ने ठीक ही कहा है—

करि फुलेल को आचमन, मीठी कहत सराह।

रे गन्धी मति अन्ध तू, अतर दिखावत काह॥

तब गन्धी ने कहा—

नहिं गंगा नहिं गोमती, नहीं राग संचार।

तू किन फूली केतकी, गीधी गांव गंवार॥

## साक्षर मूर्ख एवं शिक्षित (बहुश्रुत)

### अबहुश्रुत का स्वरूप

जे यावि होइ निव्विजे भद्रे लुद्धे अणिगगहे।  
अभिक्खणं उल्लवर्ड अविणीए अबहुस्सुए॥(2)

[उत्तराध्ययन सूत्र पृ.175]

जो विद्या रहित है, विद्यावान होते हुए भी अहंकारी है, जो (रसादि में) लुध (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध बोलता (बकता) है तथा जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है।

### अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के कारण

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्धई।  
थम्भा कोहा पमाणं रोगेणाऽलस्साण य॥(3)

पांच स्थानों (कारणों) से (ग्रहणात्मिका और आसेवनात्मिका) शिक्षा प्राप्त नहीं होती, (वे इस प्रकार हैं)-

1. अभिमान, 2. क्रोध, 3. प्रमाद, 4. रोग और 5. आलस्य। (इन्हीं पांच कारणों से बहुश्रुतता होती है।)

अह अड्हाहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई।  
अहस्सिरे सया दत्ते न य मम्ममुदाहरे॥(4)  
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।  
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥(5)

इन आठ स्थानों (कारणों) से शिक्षाशील कहलाता है— (1) जो सदा हंसी-मजाक न करे, (2) जो दान्त (इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला) हो, (3) जो दूसरों का मर्मोद्घाटन नहीं करे, (4) जो अशील (-सर्वथा चारित्रहीन) न हों, (5) जो विशील (दोषों-अतिचारों से कलंकित ब्रत-चारित्र वाला) न हो, (6) जो अत्यन्त रसलोलुप न हो, (7) (क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी) जो क्रोध न करता हो (क्षमाशील हो) और (8) जो सत्य में अनुरक्त हो, उसे शिक्षाशील (बहुश्रुतता की उपलब्धि वाला) कहा जाता है।

### अविनीत और विनीत का लक्षण

अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्माणे उ संजए।  
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ॥(6)  
चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं करता।

अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।  
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मर्जई॥(7)  
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कप्पई।

सुपियस्सावि      मित्तस्स      रहे      भासइ      पावगं ॥(8)  
 पइण्णवाई      दुहिले      भद्धे      लुद्धे      अणिगग्हे।  
 असंविभागी      अचियते      अविणीए      ति      वुच्छ ॥(9)

(1) जो बार-बार क्रोध करता है, (2) जो क्रोध को निरन्तर लम्बे समय तक बनाये रखता है,  
 (3) जो मैत्री किये जाने पर भी उसे तुकरा देता है, (4) जो श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके अहंकार करता है,  
 (5) जो स्खलनारूप पाप को लेकर (आचार्य आदि की) निन्दा करता है, (6) जो मित्रों पर भी क्रोध करता है,  
 (7) जो अत्यन्त प्रिय मित्र का भी एकान्त (परोक्ष) में अवर्णवाद बोलता है, (8) जो प्रकीर्णवादी (असम्बद्धभाषी) है, (9) द्रोही है, (10) अभिमानी है, (11) रसलोलुप है, (12) जो अजितेन्द्रिय है,  
 (13) असंविभागी है (साथी साधुओं में आहारदि का विभाग नहीं करता), (14) और अप्रीति-उत्पादक है।

अह      पन्नरसहिं      ठाणोहिं      सुविणीए      ति      वुच्छई।  
 नीयावती      अचवले      अमाई      अकुऊहले ॥(10)  
 अप्पं      चाऽहिक्षिखवई      पबन्धं      च      न      कुव्वई।  
 मेत्तिज्जमणो      भर्यई      सुयं      लब्धुं      न      मज्जई ॥(11)  
 न      य      पावपरिक्षेवी      न      य      मित्तेसु      कुप्पई।  
 आपियस्सावि      मित्तस्स      रहे      कल्लाण      भासई ॥(12)  
 कलह-डमरवज्जाए      बुद्धे      अभिजाइए।  
 हिरिमं      पडिसंलीणे      सुविणीए      ति      वुच्छई ॥(13)

पन्न्रह कारणों से साधक सुविनीत कहलाता है (1) जो नप्र (नीचा) होकर रहता है, (2) अचपल- (चंचल नहीं) है, (3) जो अमायी (दम्भी नहीं-निश्छल) है, (4) जो अकुतूहली (कौतुक देखने में तत्पर नहीं) है, (5) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता, (6) जो न क्रोध को लम्बे समय तक धारण किए रहता, (7) मैत्रीभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञता रखता हैं, (8) श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके मद नहीं करता, (9) स्खलना होने पर जो (दूसरों की) निन्दा नहीं करता, (10) जो मित्रों पर कुपित नहीं होता, (11) अप्रिय मित्र का भी एकान्त में गुणानुवाद करता है, (12) जो वाकलह और मारपीट (हाथापाई) से दूर रहता है, (13) जो कुलीन होता है, (14) जो लज्जाशील होता है और (15) जो प्रतिसंलीन (अंगोपांगों का गोपन-कर्त्ता) होता है, ऐसा बुद्धिमान साधक सुविनीत कहलाता है।

बहुश्रुत का स्वरूप और माहात्म्य—

वसे      गुरुकुले      निचं      जोगवं      उवहाणवं।  
 पियंकरे      पियंवाई      से      सिक्खं      लद्धु      मरिहई ॥(14)

जो सदा गुरुकुल में रहता है (अर्थात् सदैव गुरु-आज्ञा में ही चलता है), जो योगवान्, (समाधियुक्त या धर्म प्रवृत्तिमान) होता है, जो उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप) में निरत रहता है,

जो प्रियकर है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा (ग्रहण और आसेवन शिक्षा) प्राप्त करने योग्य होता है (अर्थात् वह बहुश्रुत हो जाता है)।

जैसे शंख में रखा हुआ दूध-अपने और अपने आधार के गुणों के कारण दोनों प्रकार से सुशोभित होता है (अर्थात् वह अकलुषित और निर्विकार रहता है), उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत (शास्त्र ज्ञान) भी दोनों ओर से (अपने और अपने आधार के गुणों से) सुशोभित होते हैं (-निर्मल एवं निर्विकार रहते हैं)।

जिस प्रकार कम्बोजदेश में उत्पन्न अश्वों में कन्थक अश्व (शीलादि गुणों से) आकीर्ण (अर्थात् जातिमान) और वेग (स्फूर्ति) में श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक भी (श्रुतशीलादि) गुणों तथा (जाति और स्फूर्ति वाले) गुणों से श्रेष्ठ होता है। जैसे आकीर्ण (जातिमान) अश्व पर आरुढ़ दृढ़ पराक्रमी शूरवीर योद्धा दोनों और से (अगल-बगल में या आगे-पीछे) होने वाले नान्दीघोष (विजयवाद्यों या जयकारों) से सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (स्वाध्याय के मांगलिक स्वरों से) सुशोभित होता है।

जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलिष्ठ हाथी किसी से पराजित नहीं होता, वैसे ही बहुश्रुत साधक (औत्पत्तिकी आदि बुद्धिरूपी हथिनियों से तथा विविध विद्याओं से युक्त होकर) किसी से भी पराजित नहीं होगा। जैसे तीखे सींगों एवं बलिष्ठ स्कन्धों वाला वृषभ यूथ के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत (स्वशास्त्र-परशास्त्र रूप तीक्ष्ण शृंगों, गच्छ का गुरुतर-कार्य-भार उठाने में समर्थ स्कन्ध से साधु आदि संघ के अधिपति-आचार्य के रूप में) सुशोभित होता है। जैसे तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, पूर्ण वयस्क एवं अपराजेय (दुष्प्रधर्ष) सिंह वन्य प्राणियों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत (नैगमादि नयरूप) दाढ़ों से तथा प्रतिभादि गुणों के कारण दुर्जय एवं श्रेष्ठ होता है। जैसे शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अप्रतिबाधित बल वाला योद्धा होता है, वैसे ही बहुश्रुत (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप त्रिविधि आयुधों से युक्त एवं कर्म रिपुओं को पराजित करने में अपराजेय योद्धा की तरह समर्थ) होता है।

जैसे महान् क्रद्धिमान् चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (आमर्त्यैषधि आदि क्रद्धियों तथा पुलाकादि लब्धियों से युक्त) चारों दिशाओं में व्याप्त कीर्ति वाला चौदह पूर्वों का स्वामी होता है।

जैसे सहस्राक्ष, वज्रपाठी एवं पुरन्दर शक्र देवों का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (देवों के द्वारा पूज्य होने से) देवों का स्वामी होता है।

जैसे अंधकार का विध्वंसक उदीयमान दिवाकर (सूर्य) तेज से जाज्वल्यमान होता है, वैसे ही बहुश्रुत (अज्ञानान्धकारनाशक होकर तप के तेज से जाज्वल्यमान) होता है।

जैसे नक्षत्रों के परिवार से परिवृत नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा पूर्णमासी को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (जिज्ञासु साधकों से परिवृत, साधुओं का अधिपति एवं ज्ञानादि सकल कलाओं से परिपूर्ण) होता है।

जैसे सामाजिकों (कृषक वर्ग या व्यवसायिगण) का कोष्ठागार (कोठार) सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत (गच्छवासी जनों के लिए सुरक्षित ज्ञान भण्डार की तरह अंग, उपांग, मूल, छेद आदि विविध श्रुतज्ञान विशेष से परिपूर्ण) होता है।

जिस प्रकार 'अनाहत' देव का 'सुदर्शन' नामक जम्बू वृक्ष, सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (अमृतफल तुल्य श्रुतज्ञान युक्त, देवपूज्य एवं समस्त साधुओं में श्रेष्ठ) होता है।

जैसे नीलवान वर्षधर पर्वत से निःसृत जल प्रवाह से परिपूर्ण एवं समुद्र-गमिनी सीतानदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (वीर-हिमाचल से निःसृत निर्मलश्रुत ज्ञान रूप जल से पूर्ण मोक्षरूप-महासमुद्रगामी एवं समस्त श्रुतज्ञानी साधुओं में श्रेष्ठ) होता है।

जिस प्रकार नाना प्रकार की औषधियों से प्रदीप, अतिमहान्, मन्दर (मेरु) पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (श्रुत माहात्म्य के कारण स्थिर, आमषौषधि आदि लब्धियों से प्रदीप एवं समस्त साधुओं में) श्रेष्ठ होता है।

जिस प्रकार अक्षय जल निधि स्वयम्भूरमण समुद्र नानाविध रूपों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (अक्षय सम्यज्ञानरूपी जलनिधि अर्थात् नानाविध ज्ञानादि रूपों से परिपूर्ण) होता है। बहुश्रुतता का फल एवं बश्वश्रुतता प्राप्ति का उपदेश—

समुद्रगम्भीरसभा दुरासद्या अचक्रिया केणाइ दुप्पहंसया।

सुयस्स पुण्णा वित्तलस्स ताइणो खविचु कम्मं गडमुत्तमं गया॥(31)

सागर के समान गम्भीर, दुरासद (जिनका पराभूत होना दुष्कर है), (परीषहादि से) अविचलित, परवादियों द्वारा अत्रासित अर्थात् अजेय, विपुल श्रुतज्ञान से परिपूर्ण और त्राता (षट्काय रक्षक)-ऐसे बहुश्रुत मुनि कर्मों का सर्वथा क्षय करके उत्तमगति (मोक्ष) में पहुँचे।

तम्हा सुयमंहिटिठ्जा उत्तमद्धगवेसए।

जेणाऽप्याणं परं चेव सिद्धिं संपाउणेजासि॥(32)

(बहुश्रुतता मुक्ति प्राप्त करने वाली है,) इसलिए उत्तमार्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) का अन्वेषक श्रुत (आगम) का (अध्ययन-श्रवण-चिन्तनादि के द्वारा) आश्रय ले, जिससे (श्रुत के आश्रय से) वह स्वयं को और दूसरे साधकों को भी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करा सके।

### बुद्धिहीन विद्या

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरूप्तमा।

बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः॥(35)

(पंचतत्रं, पृ. 40)

विद्या की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। उत्तम विद्यासम्पन्न व्यक्ति भी बुद्धि के अभाव में शेर को जिलाने वाले ब्राह्मणों की तरह नष्ट हो जाते हैं।

किसी नगर में चार ब्राह्मण पुत्र परस्पर मित्र बनकर रहते थे। उनमें से तीन ने शास्त्रों का अध्ययन तो किया था, किन्तु बुद्धिहीन थे। तथा एक शास्त्र से विमुख था, परन्तु लोक व्यवहार में बड़ा चालाक था। एक दिन चारों ने आपस में विचार किया कि—‘ऐसी विद्या से क्या लाभ है, जिससे देश-विदेश में जाकर राजाओं को संतुष्ट करके धन न कमाया जाये। अतः धन कमाने के निमित्त कहीं चलना चाहिए, तो पूर्व दिशा में चलना अधिक लाभप्रद होगा।’

यह निश्चय कर वे चारों धनोपार्जन के लिए चल पड़े। कुछ मार्ग चलकर उनमें सबसे बड़ा बोला—‘बन्धुओं, हममें जो चौथा मूर्ख है वह लोक-व्यवहार में पट्ठ है। राजाओं का दान विद्या के अभाव में केवल बुद्धि से नहीं मिलता। अतः मैं अपनी कमाई में से इसे हिस्सा न दूँ। अच्छा तो यह होगा कि यह घर लौट जाये। उसकी यह बात सुनकर द्वितीय ने कहा—‘अरे सुबुद्ध! तुम अपने घर लौट जाओ, क्योंकि तुम्हारे पास कोई विद्या नहीं है।’ तब तीसरे ने कहा—‘भाई, मेरे विचार से ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि हम लोग बचपन से ही एक साथ खेले हैं। अतः इसको भी चलने देना चाहिए। हमारे कमाये हुए धन में से यह भी एक हिस्सा ले लिया करेगा। कहा भी गया है—

किं तथा क्रियते लक्ष्म्या, या बधूरिव केवला।  
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरूप भुज्यते ॥(36)

जो साधारण वेश्या की तरह पथिकों के उपयोग में नहीं आ सकती है तथा केवल पतित्रता कुलवधू के समान एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु है उस लक्ष्मी से क्या लाभ है?

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।  
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥(37)

यह अपना है, यह पराया है इस प्रकार का विचार संकुचित भावना के व्यक्ति करते हैं। उदार व्यक्तियों के लिए समर्प्त संसार ही अपना परिवार है।

वैसा स्वीकार कर लेने से मार्ग में जाते हुए उन्होंने जंगल में कुछ हड्डियाँ देखीं। तब एक ने कहा—‘अरे, आज अपनी विद्या की परीक्षा की जाये। यह कोई मरा हुआ प्राणी है। विद्या के प्रभाव से इसको जिलाया जाये। मैं हड्डियों को एकत्र करता हूँ’ यह कहकर उसने उत्सुकतापूर्वक हड्डियों को इकट्ठा किया। दूसरे ने हड्डियों में चाम, मांस एवं खून का संचार किया। इसके बाद जब तीसरे व्यक्ति ने उसमें प्राण संचार करना प्रारम्भ कर दिया तब चतुर्थ मूर्ख सुबुद्धि ने उसे रोकते हुए कहा—‘अरे आप रुकिये। यह शेर बनाया जा रहा है। यदि तुमने इसको जिला दिया तो यह हम सभी को मार डालेगा।’

इस प्रकार उसके कहने पर वह जिलाने वाला व्यक्ति बोला—‘अरे मूर्ख! तुझे धिक्कार है। मैं अपनी विद्या को निष्फल नहीं कर सकता।’ तब मना करने वाले ने कहा—‘तो थोड़ी देर ठहरो, जब तक मैं इस वृक्ष पर चढ़ जाता हूँ, तब अपनी विद्या का प्रयोग करना।’

उसके पेड़ पर चढ़ जाने के बाद उसने ज्यों ही उस सिंह में प्राण का संचार किया, त्यों ही उठकर सिंह से उन तीनों मूर्ख पण्डितों को मार डाला और वह सुबुद्धि पेड़ से उतरकर अपने घर चला गया।

इसलिए कहता हूँ ‘वैसी विद्या अच्छी नहीं, अपितु बुद्धि अच्छी होती है। अर्थात् विद्या से बुद्धि उत्तम है।’

## साक्षर-मूर्ख

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।  
सर्वे ते हास्यतां यान्ति, यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥(38)

[पंचतंत्र, पृ.44]

शास्त्रों में कुशल रहने पर भी लोकव्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति उसी प्रकार उपहास के पात्र होते हैं जैसे वे लोकव्यवहार से हीन मूर्ख पण्डित बने थे।

किसी नगर में चार ब्राह्मण आपस में मित्र बनकर रहते थे। बचपन में उनका विचार हुआ कि दूसरे देश में जाकर विद्या पढ़ी जाये।

दूसरे दिन आपस में विचार करने के बाद वे विद्या पढ़ने के लिए कान्यकुञ्ज देश की ओर चल पड़े और वहाँ पहुँचकर किसी पाठशाला में विद्या पढ़ने लगे। एकाग्रचित्त से बारह वर्ष तक अध्ययन करने के बाद ये चारों अद्भुत विद्वान हो गये।

एक दिन चारों ने आपस में विमर्श किया—हम सभी विद्याओं निपुण हो चुके। अब गुरुजी की आज्ञा लेकर हमें अपने घर चलना चाहिए। यह निश्चय करके वे गुरुजी के पास गये और उनसे पूछकर अनुमति प्राप्त करके अपनी-अपनी पुस्तकों को साथ लेकर घर के लिए प्रस्थान कर दिया। कुछ दूर जाने के बाद मार्ग दो तरफ जाते हुए देखकर किस मार्ग से चला जाये, यह निश्चय करने के लिए एक जगह बैठ गये। उनमें से एक ने पूछा—‘किस मार्ग से चला जाये?

उसी समय पास के नगर में एक बनिये का लड़का मर गया था। उसके दाह संस्कार के लिए वाणिक लोग जा रहे थे। उस शव यात्रा को देखकर उन चारों में से एक ने पुस्तक देखकर कहा—‘महाजन लोग जिस रास्ते से जाये, उसी रास्ते से अन्य लोगों को भी जाना चाहिए। उसके कथन पर चारों व्यक्ति उस वणिक समूह के पीछे चल दिये, जैसे ही वे पण्डित महाजनों के साथ चलते हैं वैसे ही वहाँ शमशान पर उन्होंने कोई गधा देख लिया। तब दूसरे ने पुस्तक खोलकर देखा और कहा—

उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।  
राजद्वारे शमशाने च यस्तिष्ठति त बान्धवः ॥(39)

उत्सव के समय, आपत्तिकाल में, दुर्भिक्ष पड़ने पर, शत्रुओं से घिर जाने पर, राजसभा में और शमशान में जो साथ रहता है वही बन्धु होता है।

अतः यह गधा भी हमारा स्वजन ही होगा। उसके वचन को सुनकर उसमें कोई तो उस गधे को गले लगाने लगा और कोई उसका पैर धोकर पोंछने लगा। तदनन्तर जब तक उन लोगों ने चारों और देखा तो उन्हें एक ऊंट दिखाई पड़ा। उसे देखकर सबों ने आपस में तर्क किया कि यह क्या है? तब तीसरे पण्डित ने पुस्तक खोल देखकर कहा कि—‘धर्म की गति तीव्र होती है। तो निश्चय ही यह धर्म होगा।’ इस पर चौथे पण्डित ने कहा—‘मित्र को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए।’

यह विचार करके उन लोगों ने गधे को ऊंट के गले में बाँध दिया। उस समाचार को किसी ने

उस गधे के स्वामी धोबी से कह दिया। जब तक धोबी उन पण्डितों को पीटने के लिए आया तब तक वे वहाँ से भाग गये थे।

इसके बाद जब वे और कुछ दूर आगे गये तो एक नदी मिल गयी। उसकी धार में पलाश का एक पत्ता कहाँ से बहता हुआ आ रहा था। उसे देखकर उनमें से एक ने कहा- “अने वाला पत्ता हमें उस पार पहुँचा देगा। यह कहकर वह मूर्ख पण्डित नदी में कूद पड़ा। जब वह नदी की धारा में बहने लगा तो दूसरे पण्डित ने उसकी चोटी पकड़कर कहा-

सर्वनाशो समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।

अर्द्धन कुरुते कार्यं, सर्वनाशो हि दुःसहः ॥(40)

सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न होने पर समझदार व्यक्ति आधा भाग छोड़ देता है और आधे से सन्तोषपूर्वक अपना कार्य चलाता है, क्योंकि सम्पूर्ण नाश वहन करना कठिन हो जाता है।

उसके बाद आगे चलकर उन्हें कोई गाँव मिला। गाँव वालों ने उन्हें ब्राह्मण समझकर निमन्त्रित किया और भोजन करने के लिए पृथक-पृथक अपने-अपने घरों में ले गये। किसी गृहस्था ने एक को धी-चीनी में बनी हुई सेवई खाने को दी। उसे देखकर उस ब्राह्मण ने सोचा- ‘दीर्घसूची (लम्बे सूतों वाला) व्यक्ति नष्ट हो जाता है।’ अतः इसे खाकर मैं भी नष्ट हो जाऊँगा। यह विचार कर वह भोजन को छोड़कर चला गया। दूसरी व्यक्ति को रोटी खाने को मिली तो उसने सोचा- ‘अधिक विस्तृत वस्तु चिरस्थायी नहीं होती।’ अतः इसे खाकर मैं भी क्षीणायु हो जाऊँगा। यह सोचकर उसने भी भोजन करना छोड़ दिया। तीसरे को बड़ा मिला। उसने विचार किया कि छिद्र (सदोष होने) पर आपत्तियाँ और बढ़ जाती हैं। कहीं इसे खाकर मैं भी किसी आपत्ति में न फर्ज़ जाऊँ। यह सोचकर वह भी भोजन छोड़कर चला आया। इस प्रकार वे तीनों ही भूखे रह गये और लोगों के उपहास के पात्र बने। अन्ततोगत्वा वे बिना खाये-पिये अपने घर लौट गये।

### बुद्धि एवं पुरुषार्थ से कार्य की सिद्धि

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः ।

एक बुद्धिरहं भद्रे! क्रीडामि विमले जले ॥ (43)

और-भी-यह शतबुद्धि (सौ बुद्धिवाला) नामक मछली सिर पर रखा है और सहस्रधी (हजार बुद्धिवाला) नाम मछली बाहँ में लटक रहा है। किन्तु हे भद्रे एक बुद्धिवाला मैं तो स्वच्छ जल में खेल रहा हूँ।

किसी तालाब में शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नाम की दो मछलियाँ रहती थीं। उससे किसी एक बुद्धि नामक मेढ़क की मित्रता हो गयी थी। वे तीनों शाम को तालाब के किनारे बैठकर कुछ समय काव्यादि का आनंद लेने के बाद पुनः जल में चले जाते थे। एक दिन शाम को उनकी गोष्ठी के समय में ही कही से मछलियों को मारकर सिर पर रखे हुए कुछ केवट उस तालाब के किनारे आये। उस तालाब को देखकर उस लोगों ने आपस में यह विचार किया- इस तालाब में काफी मछलियाँ हैं और पानी भी कम है। तो कल सुबह हम यहाँ आ जायेंगे। यह निश्चय करके वे चले गये। उन केवटों के चले जाने पर मछलियों ने खिन्न होकर आपस में एक विचार गोष्ठी की। उस गोष्ठी में मेढ़क ने कहा - ‘अरे शतबुद्धि आपने केवटों के वार्तालाप को सुना ? कहिए, इस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए ? जैसा करना उचित हो, आदेश दें।’ उस बात को सुनकर सहस्रबुद्धि ने हसँकर कहा - ‘अरे मित्र, डरो मत। उनके कथन मात्र से ही नहीं डरना चाहिए। कहा भी गया है-

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टेतसाम् ।

अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेषेदं वर्तते जगत् ॥(44)

सर्पों के, दुष्टों के तथा बुरे हृदयवालों के मनोरथ संसार में पूरे नहीं होते। इस कारण यह संसार विद्यमान है अर्थात् उनकी विफलता के कारण ही यह संसार चल रहा है।

मैं तो समझता हूँ कि उनका आगमन ही नहीं होगा। यदि हुआ भी तो, उनसे अपनी बुद्धि के प्रभाव से अपने साथ ही तुम्हारी भी रक्षा कर दूँगा, क्योंकि मैं जल में चलने की कई कलाएँ जानता हूँ। उनको सुनकर शतबुद्धि ने कहा - 'ओर आपने ठीक कहा है। सचमुच आप सहस्रबुद्धि ही हैं।' अथवा यह ठीक ही कहा गया है-

बुद्धेवृद्धिमतां लोके नाऽस्त्यगम्यं हि किंचन ।

बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाण्यः ॥(45)

इस विश्व में बुद्धिमानों की बुद्धि के लिए कोई भी स्थान आगम्य नहीं है क्योंकि चाणक्य ने अपनी बुद्धि के ही बल पर खंगधारी नंद वंश का विनाश किया था।

न यत्राऽस्ति मतिर्वायो रश्मीनां च विवस्वतः ।

तत्रापि प्रविशात्याशु बुद्धिवृद्धिमतां सदा ॥(46)

जिस स्थान पर वायु और सूर्य की किरणों पर प्रवेश नहीं हो पाता, वहाँ बुद्धिमानों की बुद्धि तत्काल पहुँच जाती है।

अतः मल्लाहों के वार्तालाप सुनने से ही पूर्व पुरुषों द्वारा परम्परागत जन्मस्थान को छोड़ना ठीक नहीं है। कहा भी गया है कि -

न तत् स्वर्गेऽपि सौख्यं स्याद्व्यस्पर्शेन शोभने ।

कुस्थानेऽपि भवेत्पुंसां जन्मनो यत्र सम्भवः ॥(57)

रमणीय स्वर्ग में देवांगनाओं के स्पर्श से भी वह सुख नहीं प्राप्त होता, जो मनुष्य को अपनी जन्मभूमि में अनायास ही मिलता है। चाहे वह स्थान असुविधाजनक ही क्यों न हो।

अतः तुमको अपनी मातृभूमि का परित्याग नहीं करना चाहिए। मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से तुम्हारी रक्षा करूँगा। शतबुद्धि के वचन को सुनकर मेढ़क ने कहा- सज्जनो मैं एक बुद्धिवाला हूँ, तो यहाँ से भाग जाना ही उचित समझता हूँ। मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि आज ही रात में अपनी स्त्री के साथ किसी अन्य जलाशय में चल जाऊँगा। और यह कहकर यह मेढ़क उसी रात में दूसरे तालाब में चला गया। दूसरे दिन सुबह में उन मल्लाहों ने आकर छोटे-बड़े तथा मध्यजाति की मछलियों, कछुओं, मेढ़कों तथा केकड़ों आदि सभी जलचरों को पकड़ लिया। शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि ने भी अपनी स्त्रियों के साथ इधर-उधर भागते हुए अपनी जल संचरण संबंधी विभिन्न कलाओं की जानकारी के कारण कुटिल गमन द्वारा अपने को बहुत देर तक बचाने की कोशिश की, किन्तु अन्ततोगत्वा वे दोनों जाल में कँस

गये और मार डाले गये।

शतबुद्धिः शिरः स्थोऽयं, लम्बते च सहस्रधीः ।  
एकबुद्धिरहं भद्रे क्रीडामि विमले जले ॥

जब तीसरे पहर प्रसन्न हुए वे केवट अपने घर की ओर लौटने लगे तो भारी होने के कारण उनमें से एक ने शतबुद्धि को अपने सिर पर रख लिया और लम्बा होने से सहस्रबुद्धि को कंधे से लटकाकर घसीटता हुआ ले जाने लगा। तब वापी के किनारे पर बैठा हुआ मेंढक उन दोनों की उस दुर्गति को देखकर अपनी स्त्री से बोला - प्रिये! देखो - हे भद्रे! यह शतबुद्धि सिर पर रखा हुआ है और सहस्रबुद्धि लटकता हुआ जा रहा है और एक बुद्धिवाला मैं निर्मल जल में खेल रहा हूँ। इसलिए बुद्धि अच्छी, वह विद्या नहीं, यह आपने जो कहा-उस विषय में मेरा विचार यह है कि अकेली बुद्धि भी कार्य का साधन नहीं है।

### योग्य विद्यार्थी एवं अयोग्य शिक्षक

द्रोण ने कहा - अर्जुन! मैं ऐसा करने का प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुधर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ। तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुन को पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमि पर रहकर युद्ध करने की शिक्षा देने लगे। उन्होंने कौरवों को गदायुद्ध, खंग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियों के प्रयोग की कला एवं एक ही साथ अनेक शक्तियों के प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओं से युद्ध करने की शिक्षा दी। द्रोणाचार्य का वह अस्त्र कौशल सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिये वहाँ एकत्रित हो गये। महाराज! तदनन्तर निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास आया। परन्तु उसे निषादपुत्र समणकर धर्मज्ञ आचार्य ने धनुर्विद्या विषयक शिष्य नहीं बनाया। कौरवों की और दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया। शत्रुओं को संताप देने वाले एकलव्य में द्रोणाचार्य के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया और वन में लौटकर उनकी मिट्टी की मूर्ति बनायी तथा उसी में आचार्य की परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया। वह बड़े नियम के साथ रहता था। (महाभारत, पृ० 398)

परमा श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च।  
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप्त सः ॥ (35)

आचार्य में उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यास के बल से उसने बाणों के छोड़ने, लौटाने और संधान करने में बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली।

एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव आचार्य द्रोण की अनुमति से रथों पर बैठकर (हिंसक पशुओं का) शिकार खेलने के लिये निकले। इस कार्य के लिये आवश्यक सामग्री लेकर कोई मनुष्य स्वेच्छानुसार अकेला ही उन पाण्डवों के पीछे-पीछे चला। उसने साथ में एक कुता भी ले रखा था। वे सब अपना -अपना काम पूरा करने की इच्छा से वन में इधर-उधर विचर रहे थे। उनका वह मूढ़

कुत्ता वन में धूमता धामता निषाद पुत्र एकलव्य के पास जा पहुँचा। एकलव्य के शरीर का रंग काला था। उसके अंगों में मैल जम गया था और उसने काला मृगचर्म एवं जटा धारण कर रखी थी। निषाद पुत्र को इस रूप में देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूकंता हुआ उसके पास खड़ा हो गया। यह देख भील ने अपने अस्त्रलाघव का परिचय देते हुए उस भूकने वाले कुत्ते के मुख में मानो एक ही साथ सात बाण मारे। उसका मुँह बाणों से भर गया और वह उसी अवस्था में पाण्डवों के पास आया। उसे देखकर पाण्डव वीर बड़े विस्मय में पड़े। वह हाथ की फुर्ती और शब्द के अनुसार लक्ष्य बेधने की उत्तम शक्ति देखकर उस समय सब राजकुमार उस कुत्ते की ओर दृष्टि डालकर लज्जित हो गये और सब प्रकार के बाण मारने वाले की प्रशंसा करने लगे। राजन्! तत्पश्चात् पाण्डवों ने उस बनवासी वीर की वन में खोज करते हुए उसे निरन्तर बाण, चलाते हुए देखा। उस समय उसका रूप बदल गया था। पाण्डव उसे पहचान न सके; अतः पूछने लगे - 'तुम कौन हो' किसके पुत्र हो। एकलव्य ने कहा - वीरो। आप लोग मुझे निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र तथा द्रोणाचार्य का शिष्य जानें। मैंने धनुर्वेद में विशेष परिश्रम किया है वे पाण्डव लोग उस निषाद का यथार्थ परिचय पाकर लौट आये और वन में जो अद्भूत घटना घटी थी, वह सब उन्होंने द्रोणाचार्य से कह सुनायी। कुन्ती नन्दन अर्जुन बार-बार एकलव्य का स्मरण करते हुए एकान्त में द्रोण से मिलकर प्रेमपूर्वक यों बोले। अर्जुन ने कहा - आचार्य उस दिन तो आपने मुझ अकेले को हृदय से लगाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बात कही था कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा। फिर आपका यह अन्य शिष्य निषाद राज का पुत्र अस्त्र विद्या में मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोक से भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ? आचार्य द्रोण उस निषाद पुत्र के विषय में दो घड़ी तक मानो कुद सोचते-विचरते रहे; फिर कुछ निश्चय करके वे सव्यसाची अर्जुन को साथ ले उसके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने एकलव्य को देखा, जो हाथ में धनुष ले निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहा था। उसके शरीर पर मैल जम गया था। उसने सिर पर जटा धारण कर रखी थी और वस्त्र के स्थान पर चिथड़े लपेट रखे थे।

एकलव्यस्तु तं दृष्टा द्रोणमायान्तमन्तिकात्।  
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम्॥ (52)

इधर एकलव्य ने आचार्य द्रोण को समीप आते देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके दोनों चरण पकड़कर पृथ्वी पर माथा टेक दिया।

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत् स निषादजः।  
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्छलिस्यतः॥ (53)

फिर उस निषाद कुमार ने अपने को शिष्य रूप से उनके चरणों में समर्पित करके गुरु द्रोण की विधिपूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया।

राजन्! तब द्रोणाचार्य ने एकलव्य से यह बात कही - 'वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो

मुझे गुरु दक्षिणा दो।' यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ एकलव्य ने कहा - भगवन् । मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिए आज्ञा दें। ब्राह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं, जो गुरु के लिये अदेय है। तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा - 'तुम मुझे दाहिने हाथ का अगँठा दे दो।' द्रोणाचार्य का यह दारूण वचन के सुनकर सदा सत्य पर अटल रहने वाला एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए पहले की ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-विचार किये अपना दाहिना अगँठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया। द्रोणाचार्य निषादनन्दन एकलव्य को सत्यप्रति देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने संकेत से उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से बाण पकड़कर किस प्रकार धनुष की डोरी खीचनी चाहिये। तब से वह निषाद कुमार अपनी अँगुलियों द्वारा ही बाणों का संधान करने लगा। राजन्! उस अवस्था में वह उतनी शीघ्रता से बाण नहीं चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था। इस घटना से अर्जुन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी भारी चिन्ता दूर हो गयी। द्रोणाचार्य का भी वह सत्य हो गया कि अर्जुन को दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता।

उपर्युक्त प्रसिद्ध उदाहरण में एक जिजासु योग्य विद्यार्थी का तथा विद्या दान किए बिना शिष्य से दक्षिणा प्राप्त करने वाला एक गुरु का सुन्दर चित्रण किया गया है। लेखक ने एकलव्य के माध्यम से एक जिजासु पुरुषार्थी गुरुभक्त, कर्तव्यनिष्ट, दृढ़प्रतिज्ञ विद्यार्थी का चित्रण किया तो मानों में विद्यार्थी को बिना पढ़ाये उससे धन प्राप्त करने की लालसा रखने वाला एक अयोग्य शिक्षक का वर्णन द्रोणाचार्य के माध्यम से किया है। एकलव्य अपनी जिजासा, पुरुषार्थ गुरुभक्ति के माध्यम से महान् धनुर्धारी तथा शब्द भेदी बाण को भेदने वाला बन गया। इससे सिद्ध होता है कि सतत प्रयत्नशील होने पर विद्यार्थी स्वयं भी बिना गुरु की सहायता से बहुत कुछ पढ़ सकता है, सीख सकता है और शोध कर सकता है। जिस प्रकार आधुनिक काल में गेलेलियों ने पेण्डुलम घड़ी तथा दूर-विक्षण यंत्र का अविष्कार किया। न्यूटन ने केन्द्राकर्षण आदि सिद्धान्तों का आविष्कार किया, एडिसन ने प्रायः पौने बारह सौ छोटे बड़े आविष्कार किये, मारकोनि ने रेडियो का आविष्कार किया राइट भातृद्वय ने वायुयान का आविष्कार किया जेम्सवाट ने रेलइंजिन का आविष्कार किया आइन्स्टिन ने सापेक्ष सिद्धान्त  $E=mc^2$  आदि महान् सिद्धान्तों का आविष्कार किया उसी प्रकार एकलव्य स्व पुरुषार्थ से धनु-विद्या में दक्ष हो गया था। एकलव्य एवं आधुनिक शोध वैज्ञानिक की श्रेणी प्रायः एक ही है। इससे सिद्ध होता है प्राचीन काल में शोध, बोध, खोज आविष्कार करने वाले कुछ विद्यार्थी थे। इससे प्रेरणा लेकर जो आर्थिक, परिवारिक दृष्टि से असहाय सृजनशील प्रतिभावान विद्यार्थियों को हतोत्साह हुए बिना अपने अध्ययन एवं शोध बोध के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिये पीछे नहीं हटना चाहिये। कुछ योग्य विद्यार्थियों को योग्य शिक्षक नहीं मिलते हैं तो कुछ विद्यार्थियों को आर्थिक दृष्टि से गरीब होने के कारण गुरु, पुस्तक, शोध-शाला नहीं मिलती है। तथापि एकलव्य से प्रेरणा लेकर अपनी साधना में रत रहे। 'साधनात् सिद्धिः' अर्थात् साधना से सिद्धी की उपलब्धि

होती है, इस सिद्धान्त के अनुसार अवश्य सिद्धि की उपलब्धि होती है। इसके लिए आधुनिक अनेक महापुरुष भी उदाहरण के योग्य हैं। ईश्वर चन्द्रविद्यासागर एक गरीब ब्राह्मण का लड़का था। वे रात को चुल्हे के प्रकाश में तथा दिवार में छेद करके दूसरे के घर में जले हुए दीपक में अध्ययन करते थे। यही बालक जाकर आगे महान् विद्वान् बना। अमेरिका के महान् राष्ट्रपति अब्राहाम लिंकन एक गरीब किसान का लड़का था। पढ़ने के लिए उनके पास किताब तक नहीं थी। वे नदी पार करके दूसरों से पुस्तक लाकर अध्ययन करते थे। यही लड़का आगे जाकर अमेरिका का महान् राष्ट्रपति बना और दास-प्रथा का उन्मूलन किया। गणितज्ञ रामानुजन, महान् प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री आदि भी एकलब्य जैसे अध्ययन शील विद्यार्थी की कोटि में आते हैं।

### ट्यूशन के दुष्परिणाम

इस प्रकरण में द्रोणाचार्य को जो कहा गया कि गुरुदक्षिणा के रूप में उन्होंने एकलब्य का अंगुठा मांगा था। इसमें वर्तमान के अनेक अयोग्य ट्यूशन खोरी, शोषणकारी शिक्षकों का चित्रण किया गया है। वर्तमान के अनेक शिक्षक विद्यालय में नियमित जाते भी नहीं हैं, समय पर भी जाते नहीं हैं, कक्षा में देरी से जाते हैं, ठीक से पढ़ाते नहीं हैं परन्तु अलग से कोंचिंग, ट्यूशन पढ़ा करके बच्चों का समय तथा धन का शोषण करते हैं। स्कूल में उत्तम रीति से पढ़ाने पर बच्चे ट्यूशन में नहीं आयेंगे इसलिए स्कूल में ठीक से नहीं पढ़ाते हैं। उनके लिए ट्यूशन पढ़ाना मुख्य व्यवसाय हो गया है। स्कूल में पढ़ाना शाइड बिजनेस हो गया है। ट्यूशन पढ़ने से विद्यार्थी भी स्कूल में मन लगाकर नहीं पढ़ते हैं क्योंकि वे विचार करते हैं की यह विषय मैं ट्यूशन में पढ़ लूँगा। इससे स्कूल में जाना आना और रहने का समय नष्ट होता है तथा स्कूल में अलग शुल्क देना पड़ता है। दोहरा ट्यूशन में आने जाने का पढ़ने का समय नष्ट होता है और अलग से अधिक शुल्क भी देना पड़ता है। उधर स्कूल का गृहकार्य अलग है और ट्यूशन का गृहकर अलग है। बच्चा न स्कूल का गृहकार्य कर सकता है न ट्यूशन का गृहकार्य कर सकता है। इससे विद्यार्थी मानसिक रूप में और भी अधिक उलझ जाता है, अशान्त हो जाता है और दब जाता है। स्कूल के साथ-साथ ट्यूशन में भारी समय देना पड़ता है इसलिए विद्यार्थी खेल-कूद, मनोरंजन, विश्राम तथा अलग रूप से रूचि के अनुसार अध्ययन, सामाजिक, धार्मिक कार्य करने के लिए अवकाश प्राप्त नहीं कर पाता है। अतः

गुरुराज नमस्तुभ्यम्, यमराज सहोदरः ।  
यमस्तु प्राणहरति, त्वं समयं धनानि च ॥

विद्यालय में ठीक से न पढ़ाकर जो रूपया कमाने के लिए ट्यूशन पढ़ाते हैं ऐसे शिक्षक को मेरा 'दुर्जनं प्रथमं वन्दे' नियमानुसार नमस्कार हो। ऐसे शिक्षक यमराज के भाई हैं। यम तो प्राण हरण करता है किन्तु आप समय, धनादि का हरण करते हैं।

मेरे स्वयं के कतिपय अनुभवों भी विद्यार्थियों के मार्ग दर्शन के लिये यहाँ वर्णन कर रहा हूँ।

मैंने प्रायः ५ वर्ष की आयु के बाद विद्यालय में जाकर विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। प्रारम्भ से ही बहुत ही रुचि एवं एकाग्रता से पढ़ने के कारण विद्यालय में जो कुछ पढ़ता था वह इस सब मुझे समझ में आ जाता था और स्मरण में भी रह जाता था। इसलिये घर में अधिक नहीं पढ़ता था। एक दिन रात को मैं श्रीग्र शयन के लिये शव्या में लेट गया। मेरा मैंझला भैया मेरे माता-पिता को मुझे लक्ष्य करते हुये बोले- 'गंगाधर (आ. कनकनन्दी का गृहस्थ नाम) श्रीग्र भोजन करके सो जाता है, पढ़ता लिखता नहीं। इसके बाद मैंने विचार किया मैं खूब पढ़ूंगा। उसके बाद विद्यालय की पाठ्य-पुस्तक के साथ-साथ विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, तार्किक, पौराणिक आदि साहित्यों का स्वयं अध्ययन करने लगा। विभिन्न भाषाओं की वर्णमाला तथा उसका सामान्य ज्ञान प्राप्त करके मैंने स्वयं उस भाषाओं के उच्चकोटि के साहित्यों का भी अध्ययन किया और कर भी रहा हूँ। विद्यालय के अध्ययन के बाद भी दूसरों की सामान्य सहायता से या स्वतंत्र रूप से भी रसायन-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, भूगोल, खगोल, शकुन-विज्ञान, स्वप्न-विज्ञानादि का अध्ययन कर रहा हूँ। मैं विद्यार्थी अवस्था में भी दृश्योनन्दन नहीं पढ़ा। परन्तु विद्यालय के उत्तम अध्ययन से एवं स्वयं के पुरुषार्थ से मैं अधिकांश विषय में 75% से 99% या 100% अंक तक प्राप्त करता था। मैं अपनी कक्षा के विभाग में, कक्षा में तथा पूरे विद्यालय में अधिकांशतः प्रथम स्थान या कभी-कभी द्वितीय स्थान में रहता था।

मैं प्रायः कभी भी विद्यालय में अनुपस्थित नहीं रहता था। विद्यालय के प्रत्येक सांस्कृतिक कार्यक्रम में सोत्साह भाग लेता था। सांस्कृतिक कार्यक्रम में भी मुझे प्रथम या द्वितीय स्थान का पुरस्कार मिलता था। खेल-कूद में मैं कुछ कम भाग लेता था। परन्तु विद्यालय में सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी एवं सब के लिए प्रिय-पात्र होने के कारण मुझे सब भाग लेने के लिए आग्रह करते थे। तब कभी-कभी भाग लेता था। जब भी जिस खेल-कूद में भाग लिया उसमें भी प्रथम या द्वितीय स्थान प्राप्त कर लेता था। खेल में अधिक रुचि नहीं होने पर भी जब जिस में भाग लिया उसमें लगन एवं मनोयोग से पुरुषार्थ करता था जिससे विशेष पूर्वाभ्यास के अभाव से भी सफल होता था। वर्तमान मैंने स्वयं धर्म दर्शन, इतिहास, स्वास्थ्य, मंत्र, शकुन, राजनीति, आदि के शोध पूर्ण साहित्य 80-85 हैं। यह सब पूर्व संस्कार गुरु-सेवा, गुरु-कृपा, अध्ययनशीलता, एकाग्रता, विभिन्न भाषा तथा विभिन्न साहित्यों के अध्ययन का फल है।

मैं विद्यार्थी जीवन से ही धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सेवा, परोपकार आदि कार्य में सक्रिय भाग लेता आया हूँ। इससे भी आनुभाविक ज्ञान बढ़ता है। विद्यालय में भी विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ प्रायोगिक पक्ष में मैं अधिक सक्रिय भाग लेता था। भूगोल की कक्षा में मानचित्र के बिना मुझे अध्ययन करना अच्छा नहीं लगता था। गणित एवं विज्ञान मेरा सब से प्रिय विषय हैं। गणितों के उत्तर मैं स्वयं करता था। गणित सही या गलत है इसे मैं स्वयं उसकी विपरिति प्रक्रिया से परीक्षण से कर लेता था। मैं गणित के सुत्रों एवं पद्धों को छोड़कर प्रायः कोई विषय को नहीं रटता हूँ। हर विषय को सांगोपांग गहराई से समझने का पुरुषार्थ करता हूँ। उसका मनन करता हूँ, नोट्स बनाता हूँ। इतना

ही नहीं जिस विषय का मैं अध्ययन करता हूँ उसका समीक्षात्मक अध्ययन भी करता हूँ। अर्थात् उस में क्या गुण दोष है उसके बारे में भी विचार करता हूँ। सबकी योग्यता समान नहीं होती है तथापि पुरुषार्थ, लगन, एकाग्रता, गुरु सेवा से बहुत कुछ कर सकता है।

मेरा अनुभव है कि जो द्युशन पढ़ते हैं वे विशेष प्रगति नहीं कर पाते हैं। रामगंजमण्डी का टिन्कु नामक एक विद्यार्थी जो कि मेरे पास पढ़ने के लिये भी आता था, उसे मैंने पूछा तुम विद्यालय में कौन सा स्थान लाते हो? उसने कहा गुरुदेव पहले मैं प्रथम या द्वितीय स्थान लाता था परन्तु अभी मैं 8 वाँ या 10 वाँ स्थान लाता हूँ। मैंने पूछा ऐसा क्यों हुआ? उसने कहा “जबसे हमारे अभिभावक ने मुझे द्युशन पढ़ाने के लिये एक शिक्षक की नियुक्ति की तब से मेरा स्थान घटता गया। इसका कारण पूर्वोक्त है। वर्तमान अभिभावक स्वयं को आधुनिक, प्रगतिशील सम्पन्न, संतान का हित चाहने वाले बताने के लिए दुसरों का अन्धानुकरण करते हुए भी बच्चों को द्युशन भेजते हैं। वे समझते हैं कि हम बच्चों को द्युशन नहीं पढ़ायेंगे तो दूसरे लोग मूर्ख, गरीब, अशिक्षित समझेंगे। अभी तो यह भी देखने में आता है कि नर्सरी से ही द्युशन की कक्षा प्रारंभ हो जाती है। यह भी देखने में आया कि छोटे बच्चों की त्रयमासिक परीक्षा में भी माता पिता इतने चिंतित होते हैं मानो यह परीक्षा उनका सर्वहरण करने के लिए आयी हो। अभिभावक बच्चों को बोलते हैं और डराते हैं कि अभी तुम्हारी त्रयमासिक परीक्षा 10-15 दिन बाद होने वाली है अब तुम खेलो मत, धार्मिक कार्यक्रमों में मत जाओ। इससे बच्चा परीक्षा को पहले से ही भयंकर दानव समझ लेता है जिससे उसके अंदर भयग्रन्थि जन्म लेने लगती है। भय और आशैका के कारण उसका मन और भी विक्षुब्ध और चिंतित हो जाता है। इस कारण उसका मन खेल-कूद-मनोरंजन में नहीं लगता है और न ही पढ़ाई में ही लगता है। उसकी भलाई के बदले बुराई हो जाती है।

कुछ विद्यार्थी या अभिभावक द्युशन को इसलिये महत्व देते हैं कि द्युशन जिसके पास पढ़ते हैं वे परीक्षा में अच्छे अंक देकर उत्तीर्ण करवा देंगे। ऐसा प्रायोगिक रूप में बहुत होता है जिससे विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता घट जाती है। वे कर्तव्य से पराज्ञमुख हो जाते हैं, स्वालम्बन का गुण नहीं आता है। इतना ही नहीं जो विद्यार्थी द्युशन में ही हजार रु. खर्च कर लेते हैं वे आगे जाकर अन्याय, अत्याचार, शोषण, घोटाला आदि रूप से धनोपार्जन करते हैं। अनेक स्कूल, कॉलेज में तो अनेक लाखों रुपया देना पड़ता है जिससे बच्चों में अन्याय से धन कमाने की प्रवृत्ति विद्यार्थी अवस्था में जन्म ले लेती है। अभी जाली सर्टिफिकेट शिक्षक विद्यार्थियों को बेचने लगे हैं। ऐसे विद्यार्थी कार्यक्षेत्र में जाकर देश की सेवा, जनता की सेवा क्या कर सकते हैं? विद्यालय के प्रवेश द्वार पर लिखा रहता है ‘ज्ञानार्थे प्रवेश सेवार्थे प्रस्थान’ परन्तु प्रायोगिक रूप से देखने में इसके विपरीत पाया जाता है। अभी तो अधिकांशतः विद्यालय में ‘उत्श्रृंखलार्थे प्रवेश भ्रष्टाचारार्थे प्रस्थान’ अर्थात् विद्यालय में अनुशासन विहिनता उत्श्रृंखलता, दादागिरी आदि कुप्रवृत्तियाँ विद्यार्थी सीखते हैं और कार्यक्षेत्र में जाकर भ्रष्टाचार, शोषण आदि करते हैं।

कुछ विद्यार्थी स्वाभाविक बौद्धिक दृष्टि से कमजोर रहते हैं। शिक्षक उनकी योग्यता के अनुसार विशेष रूप से ध्यान देकर उन्हें पढ़ायें, लिखायें एवं मार्ग दर्शन करें। विद्यार्थियों की कमजोरी जानकर उन्हें आर्थिक एवं मानसिक दृष्टि से शोषण न करें। आवश्यकता होने पर उन्हें अलग से पढ़ायें, लिखायें एवं आगे बढ़ायें। यदि ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती है तो अन्तोतगत्वा विद्यार्थी ट्यूशन पढ़ने के लिये बाध्य होता है तब ट्यूशन पढ़ने वाला शिक्षक एक असहाय विद्यार्थी को सहायता करने की दृष्टि से पढ़ाये। उनसे न आर्थिक शोषण करें और न उनसे अयोग्य अपेक्षा करें।

कुछ विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थियों का अन्धानुकरण करके या स्वयं को एक अच्छा विद्यार्थी सिद्ध करने के लिये भी ट्यूशन पढ़ते हैं। कुछ विद्यार्थी तो ट्यूशन पढ़ने से अधिक परिश्रम किये बिना उत्तीर्ण होने की भावना से जिस विषय में स्वयं कमजोर रहते हैं उस विषय को पढ़ने वाले शिक्षक के पास ट्यूशन पढ़ते हैं क्योंकि वे शिक्षक अधिक नम्बर देकर पास कर देंगे। ऐसे विद्यार्थी बौद्धिक दृष्टि के साथ-साथ आलसी भी होते हैं। इनके अंदर आत्म-विश्वास और स्वालम्बन की भावना तीव्र नहीं होती है।

### शिशु के लिये दण्ड

एक समय की बात है, नन्दरानी यशोदा जी ने घर की दासियों को तो दूसरे कामों में लगा दिया और स्वयं (अपने लाला को मलाई खिलाने के लिये) दही मथने लगी। मैंने तुमसे अब तक भगवान् की जिन-जिन बाल-लीलाओं का वर्णन किया है, दधि मन्थन के समय वे उन सबका स्मरण करती और गाती भी जाती थीं। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण स्तन पीने के लिये दही मथती हुई अपनी माता के पास आये। उन्होंने अपनी माता के हृदय में प्रेम और आनन्द को और भी बढ़ाते हुए दही की मथानी पकड़ ली तथा उन्हें मथने से रोक दिया। श्रीकृष्ण माता यशोदा की गोद में चढ़ गये। वात्सल्य-स्नेह की अधिकता से उनके स्तनों से दूध तो स्वयं ही झर रहा था। वे उन्हें पिलाने लगीं और मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त उनका मुख देखने लगीं। इतने में ही दूसरी और अंगीठी पर रखे हुए दूध में उफान आया। उसे देखकर यशोदा जी उन्हें अतृप्त ही छोड़कर जल्दी से दूध उतारने के लिये चली गयीं। इससे श्रीकृष्ण को कुछ क्रोध आ गया। उनके लाल-लाल होठ फड़कने लगे। ‘उन्हें दाँतों से दबाकर श्रीकृष्ण ने पास ही पड़े हुए लोढे से दही का मटका फोड़ डाला, बनावटी औंसू औँखों में भर लिये और दूसरे घर में जाकर अकेले में मलाई खाने लगे। यशोदा जी औटि हुए दूध को उतारकर फिर मथने के घर में चली आयीं। वहाँ देखती है तो दही का मटका (कमोरा) टुकड़े-टुकड़े हो गया है। वे समझ गयी कि यह सब मेरे लाला की ही करतूत है। साथ ही उन्हें वहाँ न देखकर यशोदा माता हँसने लगी। इधर-उधर ढूँढ़ने पर पता चला कि श्रीकृष्ण एक उल्टे हुए ऊखल पर खड़े हैं और छीके पर का मक्खन ले-लेकर बंदरों को खूब लूटा रहे हैं। उन्हें यह भी डर है कि कीं मेरी चोरी खुल न जाय, इसलिये चौकत्ते होकर चारों ओर ताकते जाते हैं। यह देखकर यशोदा गानी पीछे से धीरे-धीरे उनके पास जा पहुँची। श्री कृष्ण ने देखा कि मेरी माँ हाथ में छड़ी लिये मेरी ही और आ रही है, तब झट से ओखली पर से कूद पड़े

और डेरे हुए की भाँति भागे। जब इस प्रकार माता यशोदा श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ने लगी, तब कुछ ही देर में बड़े-बड़े एवं हिलते हुए नितम्बों के कारण उनकी चाल धीमी पड़ गयी। वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती, पीछे-पीछे चोटी में गुँथे हुए फूल गिरते जाते। इस प्रकार सुन्दर यशोदा ज्यों-ज्यों करके उन्हें पकड़ सकीं। श्री कृष्ण का हाथ पकड़कर वे उन्हें डराने-धमकाने लगीं। उस समय श्रीकृष्ण की झाँकी बड़ी विलक्षण हो रही थी। अपराध तो किया ही था, इसलिये रुलाई रोकने पर भी न रुकती थी। हाथों से आँखें मल रहे थे, इसलिये मुँह पर काजल की स्याही फैल गयी थी। पिटने के भय से आँखे ऊपर की ओर उठ गयी थीं, उनसे व्याकुलता सूचित होती थी। जब यशोदा जी ने देखा कि लल्ला बहुत डर गया है, तब उनके हृदय में वात्सल्य स्नेह उमड़ आया। उन्होंने छड़ी फेंक दी। इसके बाद सोचा की इसको एक बार रस्सी से बाँध देना चाहिए (नहीं तो यह कहीं भाग जायेगा)। जब माता यशोदा अपने ऊंधमी और नटखट लड़के को रस्सी से बाँधने लगीं, तब वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी। तब उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर उसमें जोड़ी। अब वह भी छोटी हो गयी, तब उसके साथ और जोड़ी। इस प्रकार वे ज्यों-ज्यों रस्सी लाती और जोड़ती गयीं, त्यों-त्यों जुड़ने पर भी वे सब दो-छो अंगुल छोटी पड़ती गयीं। यशोदा रानी ने घर की सारी रस्सियाँ जोड़ डाली, फिर भी वे भगवान-श्रीकृष्ण को न बाँध सकीं। उनकी असफलता पर देखने वाली गोपियाँ मुसकराने लगीं और वे स्वयं भी मुसकराती हुई आश्चर्य चकित हो गयी। भगवान श्रीकृष्ण ने देखा कि मेरी माँ का शरीर पसीने से लथपथ हो गया है, चोटी में गुँथी हुई मालाएँ गिर गयी हैं, और वे बहुत थक भी गयी हैं, तब कृपा करके वे स्वयं ही अपनी माँ के बंधन में बँध गये। (श्री मद्भागवत पु. ॥, पृ. 176)

उपर्युक्त उदाहरण से बाल मनोविज्ञान के अनेक पहलू उजागर हो जाते हैं। बाल्यवस्था में स्वाभाविक रूप में बच्चे नटखट, शरारती होते हैं यह होना भी स्वाभाविक हैं एवं उचित भी है क्योंकि बाल्यकाल में शरीर के आंगोपांग सक्रिय होते हैं, रक्त संचार तीव्रता से होता है जिसके कारण वे एक स्थान में शान्ति से नहीं बैठ पाते हैं और चुप भी नहीं रह पाते हैं। नटखट से उन्हें आनन्दानुभव होता है, मनोरंजन होता है, शारीरिक व्यायाम होता है, मानसिक विकास होता है। खेल-खेल से वह बहुत कुछ सीखते हैं और भावी जीवन को सूचित करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में यह कहा गया है कि जब यशोदा माता दही मथ रही थी तब कृष्ण आकर यशोदा की गोद में चढ़ गये और स्नेह से यशोदा के स्तनों से दूध झरने लगा। इससे सिद्ध होता है कि बच्चों को माता के दूध की आवश्यकता अधिक होती है। माता के दूध में बच्चों के लिए सम्पूर्ण पोषक तत्व होते हैं। सन्तान के प्रति वात्सल्य भाव होने से माता के शरीर (स्तन) में दूध की मात्रा अधिक निर्माण होती हैं। यशोदा का वात्सल्य भाव कृष्ण के प्रति अधिक होने के कारण उसके स्तन से दूध झरने लगा। कृष्ण को यशोदा दूध पिलाते-पिलाते प्रसन्न हो रही थी, मुस्करा रही थी। इससे सिद्ध होता है बच्चों का पालन-पोषण प्रेम से करना चाहिये। यदि माता प्रेम से दूध पिलाती है तो बच्चों का विकास सनुलित होता है परन्तु यदि क्रोध आदि भावना से युक्त होकर

दूध पिलाती है तो दूध में विषाक्त तत्व का संचार हो जाता है। जिससे बच्चों के शारीरिक, मानसिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

उपर्युक्त उदाहरण में यह भी कहा गया है कि जब अंगीठी पर रखे हुए दूध में उफान आया तब यशोदा कृष्ण को अतृप्त छोड़कर दूध उतारने के लिए चली गई। इससे कृष्ण को कुछ क्रोध आ गया और लोड़े से दही का मटका फोड़ डाला। बनावटी औंसु औंखों में भर लिये और दूसरे घर में जाकर मलाई खाने लगे। जब यशोदा को उपर्युक्त करतूत समझ में आयी तब उसने छड़ी लेकर कृष्ण को डराने, धमकाने लगी। जब कृष्ण इससे व्याकुलित हो उठा तब यशोदा के हृदय में वात्सल्य-स्नेह उमड़ पड़ा। इसलिए उन्होंने छड़ी फैक दी एवं कृष्ण को रस्सी से बाँधने लगी। परन्तु रस्सी छोटी पड़ गई। अनेक रस्सी जोड़ने पर भी वह रस्सी छोटी ही पड़ जाती थी। जब कृष्ण देखता है कि माँ इस काम में बहुत की परेशान हो गई है तब स्वयं अपनी माँ के बंधन में बंध गये। इसी से अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के ऊपर प्रकाश पड़ता है। वह यह है कि जो बच्चे किसी कार्य में अतृप्त होते हैं या माता से वियोग होता है तब वे अपनी अभिव्यक्ति रोने के माध्यम से करते हैं। क्योंकि बच्चे स्पष्ट भाषा में नहीं बोल पाते हैं। इसलिए वह रोने रूपी भाषा में अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए बच्चों की विभिन्न परिस्थितियों में रोने की ध्वनि अलग-अलग होती है। माता रोने के माध्यम से बच्चों के मनोभाव को समझ लेती है। इतना ही नहीं कभी-कभी अतृप्त बच्चे क्रोध भी करते हैं, शारात भी करते हैं, तोड़-फोड़ भी करते हैं। उपर्युक्त मानसिक परिस्थितियों का अध्ययन करना उनके अभिभावक और गुरु का कर्तव्य होता है। यदि मानसिक परिस्थितियों का अध्ययन करके इनका समुचित समाधान नहीं किया जायेगा तो बच्चों में हीन भावना, कायरता, डर या उत्थ्रुंखल आदि प्रवृत्तियाँ घर कर लेती हैं। बच्चों को प्रेम के साथ-साथ समुचित अनुशासन भी चाहिये। अनुशासन के बिना बच्चे उत्थ्रुंखल, उदण्ड, ढीट, कुसाहसी बन जाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में कहा गया है कि जब तक कृष्ण स्वेच्छा से यशोदा के बन्धन में न आए तब तक यशोदा कृष्ण को बाँधने में असमर्थ रही जब कृष्ण स्वेच्छा से बन्धन में आये तब यशोदा बाँधने के लिए समर्थ हुई। इससे सिद्ध होता है जब बच्चे हृदय से स्वेच्छा से सुधरना नहीं चाहते हैं, शिक्षा प्राप्त करना नहीं चाहते हैं तब तक अभिभावक या गुरु भी उसे नहीं सुधार सकते हैं। जब शिष्य या शिशु अन्तरंग में स्वयं सुधरना चाहेगा, शिक्षा प्राप्त करना चाहेगा, आगे बढ़ना चाहेगा तब जाकर गुरु की शिक्षा उसके लिए मार्ग प्रदर्शन करेगी। अन्यथा नहीं कर सकती है। कहा भी है---

सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमे।

तब कछु बने उपाय, कर्म चोर आवत रुके॥

इसीलिए बच्चों की अनर्गल प्रवृत्तियों को भी रोकना चाहिये परन्तु उनकी भावनाओं का दमन नहीं करना चाहिए। शैशव अवस्था शरीर से, मन से एवं भावना से कोमल होती है। इसीलिए उनकी प्रकृति,

प्रवृत्ति एवं परिस्थिति को देखकर उन्हें शिक्षा दीक्षा देनी चाहिए एवं उन्हें अनुशासित करना चाहिए। इसलिए कहा है--- 'मर्दनं गुण वर्धनं' अर्थात् मर्दन करने से गुण में वर्धन होता है। जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण को अग्नि में तपाने से उसमें स्थित कालिमा अथवा गन्दगी दूर हो जाती है एवं सुवर्ण कनक बन जाता है। औषधि को भावना देने पर उसमें औषधिय गुणों की वृद्धि होती है, मिट्टी को रौंद कर घड़ा बना कर तपाने पर उसमें जल धारण करने की क्षमता आ जाती है। उसी प्रकार शिशु को विद्यार्थियों को समुचित अनुशासित करने पर उनमें गुण प्रकट होते हैं।

योग्य सुसंस्कृत वीरांगना माता जीजा बाई के कारण ही एक दुबला-पतला सामान्य सामंत का लड़का आगे जाकर छत्रपति शिवाजी बना। जीजा बाई बाल्यावस्था में शिवाजी को प्रेरणा देती थी, और शिवा! यदि तुमको महान् बनना है एवं भारत-माता, नारी-जाति, स्व-संस्कृति, मूल्यता, धर्म की रक्षा करनी है तो तैर लिए, सोने के लिए पंलग नहीं, खाने के लिये सोने की थाली नहीं परन्तु कठोर साधना रूप जीवन जीना पड़ेगा। यदि तुमको अपनी संस्कृति, नारी-जाति आदि की रक्षा परवाह नहीं है, तो सोने के लिए पलंग है तथा खाने के लिए सोने की थाली है। समर्थ गुरु रामदास की प्रेरणा से शिवाजी एक धीर, वीर, गम्भीर, देशभक्त, स्वाधीनता प्रेमी राजा बना, जो आज भारतीय इतिहास में अमर है। यहाँ तक कि महाराष्ट्र में आज शिवाजी को शिव का अवतार मानकर पूजा करते हैं। उपरोक्त ऐतिहासिक घटना से यह सिद्ध होता है कि मोह से ग्रसित होकर बच्चों का लालन-पालन नहीं करना चाहिए किन्तु उन्हें महान् बनाने के उद्देश्य से करना चाहिए। नीतिकारों ने कहा भी है---

लालनात् बहवो दोषास्ताडनाद्वहवो गुणाः ।  
तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्नतु लालयेत्॥

मोह-युक्त होकर लालन करने से बहुत दोष उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण को नष्ट करने के लिये एवं उचित मार्ग में लगाने के लिये ताड़न करने से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये शिष्य और पुत्र को ताड़न करना चाहिए, लालन नहीं करना चाहिए।

लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।  
प्राप्ते तु षोडशे बर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्॥

शैशव अवस्था में बच्चे अधिक संवेदनशील, निःसहाय दुर्बल होने के कारण 5 वर्ष तक उनका लालन करना चाहिए। शैशव अवस्था में ताड़न, भर्त्सना करने से बच्चों में कुण्ठित-भाव, तनाव, हीनता, डर आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अधिक शैशवदशा में प्यार-दुलार, लालन-पालन करना चाहिए। पाँच वर्ष के बाद बच्चों के मन, इन्द्रियां, शरीर कुछ परिपक होते जाते हैं। इसलिए उस अवस्था में योग्य शिक्षा-दीक्षा संस्कार देने के लिए कठोर अनुशासन करना चाहिए। किशोर अवस्था से जब बच्चे युवक अवस्था में पदार्पण करते हैं, तब उनमें कुछ आत्मागौरव-स्वाभिमान जग जाता है। इसके साथ-साथ बाल्यावस्था की सरलता, ऋजुता, ग्रहण शक्ति, स्मरण-शक्ति के कुछ मंद होने की संभावना होती है।

इसलिये पहले जिनको सुंस्कार नहीं मिला है उन्हें इस अवस्था में अनुशासित करने पर वे सहज रूप से स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इसलिए इस अवस्था के बच्चों से प्यार एवं मृदुभाव से काम लेना चाहिए।

### स्वाध्याय के अयोग्य काल

इमान्त्रित्यमन्ध्यायानधीयाने विवर्जयेत् ।

अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥(101) म.सृति पृ.140

विधिपूर्वक नित्य वेद पढ़ने-पढ़ाने वालों को इन अन्ध्यायों का त्याग करना चाहिये।

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।

एतौ वर्षास्वनन्ध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥(102)

रात में यदि वर्षाक्रतु में वायु बहने का शब्द सुनायी दे और दिन में धूल उड़ती हुई हवा बहे तो वे दोनों रात-दिन उस क्रतु में अन्ध्याय होते हैं ऐसा अध्यापन के जानने वाले मुनि कहते हैं।

विद्युत्स्तनिवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे ।

आकालिकमनन्ध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥(103)

यदि मेघ और बिजली के गरजते, चमकते हुए वर्षा होती हो और महान उल्कापात होता हो ऐसे समय को मनुजी ने अकालिक अनन्ध्याय कहा है, इसमें भी वेदाध्ययन न करे।

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताप्रियु ।

तदा विद्यादनन्ध्यायभृतौ चाप्रदर्शने ॥(104)

(वर्षाक्रतु में) संध्या समय में होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करते समय यदि विद्युत और मेघ गर्जना हो तो अनन्ध्याय जानना। अन्य क्रतु में अग्नि प्रज्वलित करने के समय (अभ्र) मेघ देखने से ही अनन्ध्याय हो जाता है।

निधति भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।

एतानाकालिकान्विद्यादनन्ध्यायानुतावपि ॥(105)

दिगर्जन, भूकम्प और ग्रह ताराओं के परस्पर युद्ध होने से अन्य क्रतु और वर्षा क्रतु में भी यह आकालिक अनन्ध्याय जानना।

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।

सज्योतिः स्यादनन्ध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥(106)

प्रातः संध्या करने के समय होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करने पर यदि बिजली चमकने के साथ-साथ मेघ गरजे, तो यह सज्योति अनन्ध्याय है अर्थात् सूर्य किरण के प्रकट होने तक अनन्ध्याय है और यदि सायंकाल में हो तो नक्षत्रों के उदय होने तक सांयकाल में अनन्ध्याय होता है।

नित्यानन्ध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।

धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥(107)

धर्म की विशेष अभिलाषा वालों को ग्राम में, नगर तथा जहाँ दुर्घट्या आती हो वहाँ सर्वदा अनध्याय होता है।

अन्तर्गतशब्दे ग्रामे वृषलक्ष्य च सन्निधी।

अनध्यायो रुद्यद्यमाने समवाये क्षनस्य च॥(108)

गाँव में मुर्दा पड़ा हो, अधार्मिक मनुष्य समीप में हो और जहाँ लोगों की भीड़ हो वहाँ अनध्याय होता है।

उदके मध्यरात्रे च विष्मूत्रस्य विसर्जने।

उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत्॥ (109)

जल में खड़े होकर, मध्य रात्रि में, मल-मूत्र विसर्जन करते समय, जूठे मूँह, श्राद्ध भोजन करने के पश्चात् मन से भी वेद का चिन्तन न करे।

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोहिष्टस्य केतनम्।

त्वयं न कीर्तयेद्ब्रह्मा राजो राहोश्च सूतके॥ (110)

विद्वान् ब्राह्मण एकोदिष्ट (श्राद्ध) का निमंत्रण स्वीकार करके तीन दिन तक वेद पाठ न करे। राजा के सम्बन्धी अशौच में सूर्य और चन्द्र ग्रहण में भी तीन दिन तक अनध्याय करे।

यावेदकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्मा न कीर्तयेत्॥(111)

विद्वान् ब्राह्मण के शरीर पर जब तक एकोदिष्ट श्राद्ध की गंध और लेप रहे तब तक वह वेदाध्ययन न करें।

शयानः प्रौढषादश्च कृत्वा चैवावसक्तिकाम्।

नाधीयोतामिष्वं जग्धवा सूतकान्नाद्यमेव च॥ (112)

बिछौने पर लेटकर, पाँव पर पाँव रखकर, घुटनों के बल बैठकर तथा अशौचान्न और मांस खाकर वेद न पढ़े।

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः।

अमावास्याचतुर्दश्योः पूर्णिमास्यष्टकासु च॥(113)

धूल उड़ती हो, बाण का शब्द सुनायी देता हो, ऐसे समय में प्रातः, सायं, सन्ध्या के समय और अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा, और अष्टमी इन तिथियों में वेद न पढ़े।

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।

ब्रह्माष्टकापूर्णिमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥(114)

अमावास्या गुरु का और चतुर्दशी शिष्य का नाश करती है। पूर्णिमा और अष्टमी पढ़े हुए वेद मन्त्रों को भूला देती है, इसलिए वेदों के अध्ययन में इन तिथियों को त्याग देना चाहिये।

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।

श्वर्खरोद्धे च रूवति पद्मकौ च न पठेद्विज॥(125)

धूल बरस रही हो, दिग्दाह हो रहा हो, श्रुगाल, कुत्ते, और ऊंट उच्च स्वर से शब्द कर रहे हों,

ऐसे समय और इनके साथ बैठकर वेदाध्ययन न करे।

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोवज्जेऽपिवा ।

बसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिग्रहा च ॥(116)

श्मशान के समीप, ग्राम के समीप, गौशाला में, रतिकाल में पहने हुए वस्त्रधारण कर और श्राद्धीय वस्तुएं प्रतिग्रह कर वेद न पढ़े।

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छाद्धिकं भवेत् ।

तदालभ्याप्यनन्धायाः पाण्यास्यो हि द्विजःस्मृतः ॥ (117)

श्राद्धीय वस्तु सजीव हो (गौ, घोड़े आदि) अथवा निर्जीव हो (वस्त्र भूषण आदि) उनका दान लेने से अनन्धाय होता है, क्योंकि ब्राह्मण के हाथ को मुनियों ने मुख कहा है।

चौरैरूपहुते ग्रामे संभ्रमे चाप्रिकारिते ।

आकालिकमनन्धायां विद्यात्सर्वाद्दुतेषु च ॥(118)

गाँव में चोरों का उपद्रव, गृहदाहादिका भय और सब प्रकार के अद्भुत उत्पात दृष्टिगोचर होने पर अकालिका अनन्धाय जानना।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेमणं स्मृतम् ।

अष्टाकासु त्वहोरात्रं मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥(119)

उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन, मार्गशीर्ष की पूर्णिमा के बाद कृष्ण पक्ष की अष्टमी में एक अहोरात्र और क्रतु के अन्त की रात्रियों में भी एक अहोरात्र (दिन-रात) अनन्धाय होता है।

नाधीयीताश्वमारुढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।

न नावं खरं, नोष्ट्रं नोरिणस्थो न यानगः ॥(120)

घोड़े, हाथी, गधे, ऊंट, नाव और पेड़ पर चढ़कर वेद न पढ़ें। ऊसर भूमि में या रथ पर बैठा हुआ भी वेद मन्त्रों का पाठ न करे।

न विवादे न कलहे न सेनाया न संगरे ।

न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥(121)

किसी के साथ विवाद होता हो, या झगड़ा होता हो ऐसे समय और सेना के बीच में, युद्ध में, भोजन करके तुरन्त अजीर्ण होने पर, वमन करके और खट्टी डकार आने पर वेद का पाठ न करे।

अतिथि चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।

रुधिरे च सुते गात्राच्छ्वेण च परिक्षते ॥(122)

अतिथि को बताये बिना, हवा खूब तेज बहती हो उस समय शरीर से लहू गिरने या कोई अंग हथियार से कट जाने पर अध्ययन न करना चाहिए।

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।

वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥(123)

सामवेद की ध्वनि सुनाई देती हो तो क्रवेद और यजुर्वेद का भी अध्ययन न करे। किसी वेद को या अरण्यक संज्ञक वेद के एक अंश को समाप्त कर उस दिन या उस रात में पुनः वेद का कोई भाग न पढ़े।

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्स्याशुचिर्धर्वनिः ॥(124)

ऋग्वेद के देवता देव हैं, यजुर्वेद के मनुष्य और सामवेद के पितृ देवता हैं। इसलिए उसकी (सामवेद को) ध्वनि अपवित्र है।

एतद्विदन्तो विद्वांसख्यीनिष्कर्षमन्वहम् ।

क्रमतः पूर्वमध्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥(125)

पूर्वोक्त तीनों वेदों के देवताओं को जानता हुआ विद्वान पहले प्रणवव्याहृतिपूर्वक सावित्री का क्रम से अध्यास करने के पश्चात् वेद का अध्ययन करे।

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमनेविद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥(126)

पशु (गाय, भैंस आदि), मेंढक, बिल्ली, कुत्ता, साँप, नेवला और चूहा इनमें से कोई गुरु-शिष्य के बीच में होकर निकल जाय तो एक दिन-रात अनध्याय होता है।

द्वादेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धमात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥(127)

स्वाध्याय की अशुद्ध भूमि और अपना अशुद्ध शरीर इन दो अनध्यायों का नित्य यत्पूर्वक त्याग करे।

प्रत्येक कार्य के लिये अन्तरंग एवं बहिरंग रूपी अनेक कारण चाहिये। अन्तरंग कारण को उद्धीपन/सक्रिय करने के लिये बहिरंग कारणों की आवश्यकता होती है। मुख्यतः इन कारणों को हम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, रूप में विभक्त कर सकते हैं। इसे वैज्ञानिक आइस्टीन के अनुसार चतु: आयाम सिद्धान्त कह सकते हैं। जिस प्रकार अनाज (धान्य) उत्पादन के लिये बीज क्षेत्र (जमीन) काल (समय) परिश्रमादि चाहिये उसी ही प्रकार अध्ययन/ज्ञानार्जन के लिये योग्य काल, विद्यार्थी, शिक्षक साधनादि चाहिये। यहाँ पर अध्ययन के लिये अयोग्य काल का वर्णन किया गया है। उससे रहित अन्य उचित काल अध्ययन काल है। संक्रमण काल (संधार्दि काल) में वातावरण अशुद्ध/विक्षुब्ध/अशान्त रहता है। जिससे मन भी अशान्त रहता है इसलिये इस समय अध्ययन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सूर्य ग्रहण, अग्निदाह, अतिवर्षा, झंजा-वात आदि में भी जान लेना चाहिये। परन्तु सरल, सामान्य विषय तथा पुराण, चरित्र, जीवनी, कथा कहानी, नैतिक विषयादि पढ़ सकते हैं। क्योंकि इसके लिये अधिक बुद्धि-लब्धि की, एकाग्रता की आवश्यकता नहीं रहती है। सन्धि काल (सूर्य उदय-अस्त, मध्याह्न, मध्य रात्रि के पूर्व एवं पश्चात् (48-48 मिनटों) को छोड़कर शान्त, रम्य, समय में अध्ययन करना चाहिये। गरमी में अधिक अध्ययन में मन नहीं लगता है। शीतल, समशीतोष्ण वातावरण में अध्ययन में मन अधिक लगता है।

